गोविन्द चन्द्र पाण्डे -
विरचित

सौन्दर्य-दर्शन-विमर्श

अनुवादक

जगन्नाथ पाठक

सौन्दर्य-दर्शन-विमर्श

गोविन्द चन्द्र पाण्डे-
विरचित

सौन्दर्य-दर्शन-विमर्श

अनुवादक
जगन्नाथ पाठक

राका प्रकाशन
इलाहाबाद

ISBN 81-88216-14-3

कॉपीराइट :
लेखक

*

प्रथम संस्करण:
२००३

*

प्रकाशक :
राका प्रकाशन
४०ए, मोतीलाल नेहरू रोड
इलाहाबाद-२११ ००२,
दूरभाष : २४६६७९१

*

मूल्य : १६०.०० रुपए

*

मुद्रक:
केशव प्रकाशन
सिविल लाइन्स, इलाहाबाद

SAUNDARYA DARSHAN VIMARSH (BY Prof. G.C. Pande)
Translated by
Dr. Jagannath Pathak

आमुख

संवत् २०५० में अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ के निमंत्रण पर मैंने प्रोफेसर के०एस० सुब्रह्मण्यम् स्मृति में व्याख्यान दिये थे। उनका परिवर्तित-परिवर्धित रूप वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से सौन्दर्यदर्शनविमर्शः के नाम से प्रकाशित हुआ। देववाणी में निबद्ध होने के कारण, अनेकत्र शास्त्रार्थ शैली के प्रयोग के कारण, एवं अनेक दार्शनिक संप्रदायों, विद्याओं और कला के पारिभाषिक शब्दों के उपयोग के कारण इस ग्रन्थ के विषय में जिज्ञासा होने पर भी इसका पाठक-समुदाय सीमित ही बना रहा। मित्रवर महाकवि जगन्नाथ पाठक ने अपनी सहृदय और निपुण लेखनी से इसका राष्ट्रभाषा में प्राञ्जल अनुवाद कर इस ग्रन्थ को एक बृहत्तर पाठक-समाज के समक्ष प्रस्तुत कर मुझे अपना चिरऋणी बना दिया है।

मेरा विश्वास है कि ऐतिहासिक, सांस्कृतिक सापेक्षता और सांप्रत्ययिक प्रतीक द्वन्द्वात्मकता की ओर ध्यान दिये बिना सौन्दर्यशास्त्रीय दर्शन का समीचीन विमर्श संभव नहीं है। दार्शनिक प्रत्ययों और वादों का विचार उनकी अपनी परम्परा वैचारिक और सांस्कृतिक एवं विश्वजनीनता के आग्रह के व्यापक संदर्भ में ही यथाशक्य होना चाहिए। यह अवश्य ही एक आदर्श मात्र है, तो भी 'नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः।'

आशा है कि सुधी पाठक मूल लेखन की त्रुटियों को क्षमा करते हुए प्रोफेसर पाठक के विशद अनुवाद का आस्वादन करेंगे।

गोविन्द चन्द्र पाण्डे

अनुक्रम

आमुख	V
प्रारम्भिक टिप्पणी	१-६
सौन्दर्य-दर्शन-विमर्श	७-४२
रूपतत्त्व का विमर्श	४३-९४
रसतत्त्व का विमर्श	९५-१३३
सौन्दर्यदर्शन-कारिका	१३४-१४४
शब्दानुक्रमणी	१४५-१५२

प्रारम्भिक टिप्पणी

प्रथम कारिका में 'सौन्दर्य' को एक 'विलक्षण अर्थ' बताते हुए आचार्य गोविन्द चन्द्र पाण्डे जी उससे आनन्द के अनुभव की बात करते हैं तथा उसकी उपलब्धि के तीन स्रोतों की चर्चा करते हैं- एक तो सभी कलाएं, जैसे संगीत, चित्र आदि, दूसरे काव्य। आचार्य ने यहाँ स्पष्ट ही काव्य को भी इस सन्दर्भ में कलाओं का सजातीय माना है। और तीसरा प्राकृतिक दृश्य, जैसे सूर्य या चन्द्र के उदय आदि। इससे स्पष्ट है कि कलाओं (जिनमें काव्य अन्तर्भूत है) और प्राकृतिक दृश्य सौन्दर्य-बोध के स्रोत हैं, और सौन्दर्य-बोध (या सौन्दर्यानुभूति) आनन्द के अनुभव का साधन।

दूसरी तथा तीसरी कारिकाओं में, उस आनन्द के हेतु दृश्य या विषयगत हैं, अर्थात् जो अक्षों या इन्द्रियों का गोचर है उसकी 'अन्वीक्षा'* (अर्थात् उपलब्ध ज्ञान का आलोचनात्मक अनुसन्धान) करते हुए आचार्यों ने उसकी संज्ञा 'ईस्थैटिक' दी है। 'ईस्थैटिक' इस नाम से नूतन (स्वतन्त्र) एक विद्या प्रस्थान का जर्मनी देश के, अठारहवीं शती में उत्पन्न बाउमगार्टन् (=वृक्षोद्यान) नामक आचार्य ने इदम्प्रथमतया प्रवर्तन किया।

कहते हैं कि ग्रीक भाषा से लिया गया मूल शब्द ग्रीक धातु "aisthesthai" = प्रत्यक्ष करना, बाद में Aesthesis बना। इसका अर्थ है ऐन्द्रिय संवेदना या ऐन्द्रिय सुख की चेतना। बाद में इससे 'एस्थेटिक' शब्द निष्पन्न हुआ और यही एस्थेटिक्स के रूप में, हिन्दी में प्राय: 'सौन्दर्यशास्त्र' के रूप में अनूदित किया गया और अधिक प्रचलित हुआ।

---

* अन्वीक्षा पर द्रष्टव्य वात्स्यायन का न्यायभाष्य।

किसी शब्द के दो प्रकार के अर्थ होते हैं- व्युत्पत्तिनिमित्त अर्थ और प्रवृत्तिनिमित्त अर्थ। जैसे गौः का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ हुआ 'वह जो चलता है' (गच्छतीति गौः), किन्तु प्रवृत्तिमूलक अर्थ के अनुसार सास्नादिमान् प्राणी हुआ। आचार्य पाण्डे जी के अनुसार व्युत्पत्ति की दृष्टि से इस ईस्थैटिक/सौन्दर्यशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा आस्वाद्य विषय-विशेष है और प्रवृत्ति की दृष्टि को 'स्वलक्षण'* की भाँति, जो अतुलनीय तथा अनिर्वाच्य जैसा होकर भी समालोचना के योग्य कोई अर्थाकार से अवच्छिन्न अतिशय-विशेष है, जिसका पर्याय 'चमत्कार' है और जो 'सौन्दर्य' शब्द से अभिहित होता है।

यहाँ 'सौन्दर्य' को 'स्वलक्षण' जैसा कहा गया है। स्वयं आचार्य ने सौन्दर्य को अतुल और अनिर्वाच्य बताकर एक प्रकार से उसका 'स्वलक्षण' जैसा होना सूचित कर दिया है। बौद्धों के यहाँ 'स्वलक्षण' सामान्य विशेषात्मक द्रव्यों से भिन्न है। द्रव्यादि व्यावहारिक पदार्थों से भिन्न कोई चीज़ है जिसका शब्द के द्वारा निर्देश करना सम्भव नहीं है, तथा वह प्रत्यक्ष निर्विकल्प बुद्धि में प्रतिभासित होता है। यहाँ उसे ही 'स्वलक्षण' कहा गया है।

बौद्धमतानुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष स्वलक्षण-विषयक अर्थात् 'वस्तुमात्र' विषयक होने से वस्तुमात्र से जन्य है, इसलिए 'अर्थज' है। यहाँ 'सौन्दर्य को भी 'अर्थाकारावच्छिन्न' कहा गया है अर्थात् उसका ज्ञान एक अर्थाकार से अवच्छिन्न होता है।

आचार्य ने यहाँ सौन्दर्य को 'चमत्कारापरपर्याय' कहा है। लगता है कि इसके उल्लेख के समय आचार्य के मन में रसगङ्गाधरकार की यह पंक्ति स्मृतिगोचर रही होगी, जिसे पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने काव्य-लक्षण "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' की व्याख्या करते हुए प्रस्तुत की है। 'रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता, लोकोत्तरत्वञ्च आह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः।" 'चमत्कार' शब्द पर विशेष चर्चा, आगे यथास्थान होगी।

---

* स्वलक्षणं नाम जात्यादिरहितम्। व्युत्पत्तिलभ्यार्थे यत्प्रकारीभूतं तद् व्युत्पत्तिनिमित्तम् शक्तिग्रहे यत् प्रकारीभूतं तत्प्रवृत्तिनिमित्तम्।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'सौन्दर्य-शास्त्र' को दर्शन के रूप में लिया गया है, न कि विज्ञान के रूप में। आधुनिक चिन्तक इसे विज्ञान कहना अधिक पसन्द करते हैं। दर्शन और विज्ञान में मूल अन्तर यह माना जाता है कि 'विज्ञान' के निष्कर्ष जहाँ तथ्यात्मक होते हैं, अर्थात् भौतिक स्तर पर सत्यापित किए जाते हैं, वहाँ दर्शन के निष्कर्ष अन्ततः बुद्धिकल्पना-गम्य ही रहते हैं।

भारत में, प्राचीनकाल से चौदह विद्याओं का उल्लेख मिलता है, जैसे-

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश।।

और, भारतीय शास्त्रों की परम्परा में कहीं 'सौन्दर्य-मीमांसा' इस नाम से इस शास्त्र का उल्लेख नहीं मिलता। यही मात्र कारण नहीं बन सकता कि इन उक्त चतुर्दश विद्याओं के अतिरिक्त विद्याएं हो नहीं सकतीं। कहीं तो अट्ठारह विद्याओं का भी निर्देश या सूचना मिलती है। आचार्य पाण्डे जी के अनुसार, विद्याओं का विभाग अनेकान्त (अर्थात् अस्थिर) होता है। फिर वे कहते हैं कि विद्याओं की दो प्रकार की सापेक्षता है।

'साहित्य, सौन्दर्य और संस्कृति' के नाम से दिये गये अपने एक व्याख्यान में, इस प्रसङ्ग की स्पष्ट चर्चा उन्होंने इन शब्दों में की है- "अनेकत्र यह पढ़ा-सुना जाता है कि सौन्दर्य-मीमांसा या ईस्थैटिक्स की कोई निश्चित शास्त्रीय परम्परा भारत में नहीं पायी जाती। स्वयं 'सौन्दर्यमीमांसा' या 'सौन्दर्यशास्त्र', ये शब्द भी ईस्थैटिक्स के अनुवाद के रूप में गढ़े गये हैं। अलङ्कारशास्त्र, नाट्यशास्त्र, शिल्पशास्त्र, साहित्यशास्त्र आदि अनेक शास्त्र भारतीय परम्परा में उपलब्ध होते हैं। सौन्दर्य की अर्थतः चर्चा इन शास्त्रों में मिलती है। वामन ने तो अलङ्कार का अर्थ ही सौन्दर्य बताया है। जगन्नाथ पण्डितराज ने काव्यार्थ की विशेषता 'रमणीयता' बतायी है जो कि सौन्दर्य का पर्यायवाची शब्द है। सौन्दर्य और कलातत्त्व की सर्वांगीण और व्यवस्थित दार्शनिक मीमांसा के रूप में एक पृथक् शास्त्रीय प्रस्थान अवश्य ही प्राचीन भारतीय परम्परा के अवशिष्ट साहित्य में नहीं मिलता, पर इस प्रकार का शास्त्र पश्चिम में भी पहले नहीं था। उसकी उद्भावना १८वीं सदी में बाउमगार्टेन के द्वारा सर्वप्रथम हुई, यह सुविदित है।

किन्तु यह कहना सही नहीं होगा कि इस कारण इस विषय के चिन्तन का ही महत्त्वपूर्ण प्रारम्भ तभी से मानना चाहिए। प्लातोन और अरस्तू इस विषय के जाने-माने विचारक हैं, पर उन्होंने ईस्थैटिक्स नाम के अलग शास्त्र की कल्पना नहीं की। वस्तुतः कलाओं अथवा विद्याओं का विभाजन सार्वभौम रूप में नहीं मिलता है। उसमें स्पष्ट ही एक संस्कृति-सापेक्षता देखी जा सकती है। कला, विद्या आदि प्रकृति-प्रदत्त पदार्थ न होकर सांस्कृतिक अवधारणाएं हैं। यह कादाचित्क या आगन्तुक तथ्य नहीं है, अपितु एक अनिवार्यता है। क्योंकि कला, विद्या आदि सांस्कृतिक अनुभव के ही आत्मपरामर्शात्मक विकल्प हैं।" (पृ०१४,१५)

दृष्टिमूलक सापेक्षता की चर्चा करते हुए आचार्य कहते हैं - "प्रत्येक दार्शनिक प्रस्थान किसी न किसी मूलभूत दृष्टि पर आधारित देखा जा सकता है; क्योंकि उसकी तार्किक विचार-प्रणाली ऐसी आरम्भिक या मूल प्रतिपत्तियों का पूर्वाभ्युपगम करती है जो स्वयं उसकी उपपत्तियों का विषय नहीं बनतीं। कदाचित् यह कहा जाए कि ये मूल दृष्टियाँ मनुष्य मात्र के अनुभव की तार्किक सम्भावनाओं के रूप में वैकल्पिक रचनाएं हैं तो भी उनमें से चुनने के लिए तर्क के अतिरिक्त कुछ अनुभवात्मक आधार चाहिए। नैयायिकों ने यह स्पष्ट किया है कि तार्किक अन्वीक्षा को प्रत्यक्ष अथवा आगम का आधार चाहिए और फिर दार्शनिक रचनाएँ नितान्त तार्किक ही नहीं होतीं, क्योंकि उनमें वस्तुसत्ता, मूल्यतत्त्व एवं स्वयं तर्क और ज्ञान के विषय में भी कल्पनाएं होती हैं।"

फिर वस्तुस्थिति की बात करते हुए आचार्य शास्त्र-ऐक्य, सिद्ध करने की युक्तियों का उल्लेख करते हैं। आज, नये विज्ञान के आविर्भाव के युग में एक ही शास्त्र देश और काल के भेद से भिन्न होकर भी अभिन्न बना रहता है। शास्त्र वस्तु के अधीन होता है, अनेक भिन्न वस्तुओं के होने पर भी सब में समान विषय के होने से शास्त्र एक बना रहता है। अपनी बात को और भी दृढ़तया स्थापित करने के लिए आचार्य ने यहाँ मानव-प्रज्ञा से अर्जित ज्योतिर्विद्या आदि के सिद्धान्तों को, उनकी ज्ञानरूपता की स्थिति में काल से अत्यस्त (निराकृत) न होने की बात कही है। जब उनमें आगन्तुक भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं तब समय से मानव के प्रयत्न से उत्पन्न विद्या-वृद्धि द्वारा उनका निराकरण होता है। तब वह विद्या दोषों से परिष्कृत होकर

पर्यवदाततर (स्फुटतर) हो जाती है। ऐसी स्थिति में अद्यावधिक इतिहास में उसका आधुनिक रूप प्रामाणिकतम माना जाना चाहिए । कोई ज्ञान न तो सर्वथा ऐकान्तिक और न ही आत्यन्तिक रूप में उपलब्ध होता है, फिर भी उससे जुड़ी विद्या के इतिहास में, समानप्रवाह में विभिन्नताएं मिली होती हैं और विकास के तारतम्य के कारण शास्त्र का एकत्व सिद्ध होता है।

एक दूसरे ढंग से, शास्त्र के ऐक्य की बात की जा सकती है। उनका कहना है कि वस्तु का ज्ञान वस्तु के अधीन होता है उनका यह कथन 'मेयाधीना मानसिद्धिः' के आधार पर है, और जब ज्ञान एक ही प्रकार की (अर्थात् समान) वस्तुओं को विषय बनाता है तो भले ही उनके ज्ञान का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र एक ही होगा, और यदि इस स्थिति में शास्त्र के नानात्व की कल्पना करते हैं तो उसका कारण बताना होगा। आचार्य के अनुसार शास्त्र अथवा विद्या का नानात्व दो कारणों से सम्भव है, एक तो यह कि जब विद्या या शास्त्र के नाना रूपों की कल्पना होने लगती है तब, या तो विषय अपने एक देश में नियमित हो जाता है या किसी प्रकार के दोष के उत्पन्न हो जाने के कारण। प्रथम कारण का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है, वृक्ष का शाखावच्छेद से कपिसंयोग और मूलावच्छेद से कपिसंयोगाभाव। वृक्ष एक है किन्तु अवच्छेद-भेद से कपिसंयोग और कपिसंयोगाभाव दोनों का आधार है। अर्थात् वृक्ष के एक देश में कपिसंयोग है और एक देश में कपिसंयोग का अभाव। दूसरा कारण है, दोषजन्य वैविध्य; जैसे एक प्रकार के अक्षिदोष के कारण दो चन्द्र का दिखाई देना (इस प्रसङ्ग में बहुश्रुत आचार्य महोदय ने रेखागणितों में युक्लिडीय और अयुक्लिडीय तथा खगोल-विद्याओं में टॉलमेय और कोपर्निकीय में नानात्व का जो उदाहरण के रूप में उल्लेख किया है उस पर कुछ भी स्पष्टीकरण के रूप में टिप्पणी करना मेरी सामर्थ्य सीमा से बाहर है) इस प्रकार यद्यपि विद्या विभाजन में अव्यवस्था प्रतीत होती है, उसका कारण प्रयोगभेद, विधिभेद, रूढ़िभेद, एकदेशपरकता, प्रयोजनभेद अथवा भूमिभेद कहे जा सकते हैं। यह नहीं कहा जा सकता है कि समान विषयक शास्त्र साररूप में देश, काल के कारण विभिन्न होगा। अतः सौन्दर्यशास्त्र को भी तात्विक रूप से सार्वभौमिक और सनातन होना चाहिए। इस पूर्वपक्ष का विस्तृत प्रतिपादन कर इस बात का उपपादन किया गया है कि सौन्दर्यशास्त्र,

सौन्दर्यानुभूति के भेद से और तत्त्वविचार के भेद से विभिन्न रूपों में ही प्राप्त होता है। दर्शनमात्र साक्षात् वस्तु निरूपक न होकर तद्विषयक प्रतीतियों के आलोचन के द्वारा अवधारणायें विकल्पित करता है। अतः जैसे दर्शनशास्त्र में आदर्श एक होते हुए भी अनेक प्रस्थान उपलब्ध होते हैं, ऐसे ही सौन्दर्यशास्त्रीय दर्शन में भी।

●

सौन्दर्य-दर्शन-विमर्श

सौन्दर्यशास्त्र के स्वरूप का आलोचन

(न केवल) सङ्गीत, काव्य, चित्र आदि में, (प्रत्युत) सूर्य और चन्द्र के उदय आदि (प्राकृतिक दृश्यों) में, लोगों का चित्त एक विलक्षण अर्थ (-सौन्दर्य) का आलोचन करके आनन्द का अनुभव करता है ।। १।।

उस (आनन्द) का कारण-स्वरूप जो दृश्य, विषयगत सौन्दर्य है, जो इन्द्रियगोचर हो रहा है, उसकी अन्वीक्षा करते हुए, 'ईस्थैटिक' संज्ञक उसके (सौन्दर्य के) शास्त्र का 'वृक्षोद्यान' (बाउमगार्टेन) नामक आचार्य ने अलग ही प्रणयन किया। यहाँ उसी विद्या-स्थान का तत्त्व-विमर्श करते हैं ।। २,३।।

इन दिनों, पाश्चात्य विद्वानों तथा हम लोगों में, जिन्होंने पाश्चात्य शास्त्रों का परिशीलन किया है, 'ईस्थैटिक' इस नाम का नया विद्या-प्रस्थान सुविदित है। उसका प्रथम बार, जर्मन देश के बाउमगार्टेन नाम के आचार्य ने, अठारहवीं शताब्दी में प्रतिपादन किया था। उसी (शब्द) का अनुवाद प्रायः 'सौन्दर्यशास्त्र' किया जाता है। इस शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य, (शाब्दिक) व्युत्पत्ति की दृष्टि से ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का आस्वाद्य विषय-विशेष है, किन्तु प्रवृत्ति (व्यवहार) की दृष्टि से 'स्वलक्षण'[1] की भाँति, अतुलनीय, अनिर्वाच्य जैसा (होने पर) भी समालोचना के योग्य, अर्थाकार से अवच्छिन्न अतिशय-विशेष, जिसे दूसरे शब्द में 'चमत्कार' कहते हैं, 'सौन्दर्य' है, ऐसा कह सकते हैं।

बहुत विद्वानों का यह मानना है कि पहले कभी भारत में यह कोई स्वतन्त्र विद्या नहीं थी, किन्तु इस बात का वे (विद्वान्) विचार नहीं करते

कि विद्याओं का विभाग अनेकान्त (अ-स्थिर) होता है। विद्याओं की दो प्रकार की सापेक्षता है- एक दृष्टिमूलक और दूसरी संस्कृतिमूलक।। ४,५।।

बौद्धों के यहाँ 'स्वलक्षण' न तो द्रव्य है, न उसका परिणाम है और न वह सामान्य है, न ही वह विशेष है। उन सभी से भिन्न कोई चीज है जिसका शब्द के द्वारा निर्देश करना सम्भव नहीं है तथा वह प्रत्यक्ष निर्विकल्प बुद्धि में प्रतिभासित होता है, उसे ही 'स्वलक्षण' कहते हैं।

अनेकत्र ऐसा सुना जाता है कि सौन्दर्यमीमांसा (या ईस्थैटिक्स) नाम की विद्या भारतीय शास्त्रीय परम्परा में कहीं नहीं पाई जाती है। यद्यपि नाट्यशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र, शिल्पशास्त्र, सङ्गीतशास्त्र आदि हैं तथापि सौन्दर्य के व्यापक तत्त्वों का, दार्शनिक विचार के ढंग से स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में, उनमें प्रतिपादन नहीं हुआ है, किन्तु ये विद्वान् विद्या के विभागों के अनैकान्तिकत्व (अस्थिरत्व) के विषय में, 'गजनिमीलिका' कर जाते हैं। सभी युगों अथवा देशों में विद्या का विभाग एक समान नहीं होता, और न ही वे विद्या के विभाग एक समान प्रवाह के रूप में चले आते हैं। और न ही विद्या की परम्पराओं में विकास का सातत्य अथवा अविच्छेद नित्य उपलब्ध होता है। वस्तुतः, दृष्टि के भेद और सांस्कृतिक वासना के भेद से विद्या के स्वरूप की कल्पनाएं और उसके विभाग नाना हो जाते हैं।

यह आशंका की जाती है कि देश और काल के भेद से एक ही शास्त्र नाना हो जाता है, वस्तु के अधीन होने के कारण और भेदानुगत सामान्य विषय के होने के कारण वह (भिन्न होते हुए भी) अभिन्न होता है।। ६।।

प्रमाण के आश्रित विज्ञान स्वरूप विद्या होने के कारण सौन्दर्यशास्त्र निश्चित रूप से एक शास्त्र होना चाहिए ।। ७।।

वर्तमान विद्या विभाग को स्थिर/पूर्ण तथा आधुनिक विद्याओं को श्रेष्ठ और अपूर्व मानता हुआ विपक्षी पूर्वोक्त मत (सापेक्षतापरक) पर आपत्ति करता है। विद्या स्वरूपतः पुरुष की अपेक्षा नहीं करती, और प्राचीनों के मतानुसार भी, शास्त्र अपने प्रामाण्य के विषय में देश और काल की अपेक्षा नहीं करता है, प्रत्युत वह (शास्त्र) सार्वभौम और सनातन है। मानव की प्रज्ञा द्वारा अर्जित भी, ज्योतिर्विद्या आदि के सिद्धान्त जब तक ज्ञानरूप हैं,

तब तक कालात्यस्त (कालक्रम से समाप्त) नहीं होते। आगन्तुक भ्रान्तियां ही समय से, पुरुष-प्रयत्न से उत्पन्न विद्यावृद्धि के कारण, निराकृत होती हैं। इस प्रकार विद्या, क्रमशः दोषों से परिष्कृत होकर पर्यवदाततर (स्फीततर) होती है। और उसके आधुनिक रूप को अब तक के इतिहास में, प्रामाणिकतम मानना चाहिए। इस प्रकार, ऐकान्तिक (स्थिर) और आत्यन्तिक तथा अनन्त अबाधित ज्ञान की अनुपलब्धि की स्थिति में भी, विद्या के इतिहास में विकास के तारतम्य से, समान प्रवाह के कारण विभेद को अपने में समेट लेने वाला शास्त्रैकत्व सिद्ध होता है।

और फिर दूसरी ओर यदि ज्ञान के विषयाधीन होने पर भी, समान विषय के ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले उसी शास्त्र के नाना रूपों की यदि कल्पना की जाए तो वहाँ, नानात्व का कारण बताना आवश्यक होगा। (यह अवधेय है कि विद्याओं में नानात्व की प्रतीति उनकी एकता का सदा बाध नही करती) उदाहरण के लिये विषय के एक देश में नियमन के कारण, अथवा दोषजन्य वैविध्य के कारण विद्या का नानात्व हो सकता है, जैसे यूक्लिदीय और अयूक्लिदीय रेखागणितों में तथा टॉलमेय और कोपर्निकीय खगोल-विद्याओं में। ऐसा होने पर, इस प्रकार का भेद होने पर भी भेदानुगत सामान्य विषय होने के कारण, शास्त्र का परम रूप सभी भेदों का संग्राहक होता है। प्रमाण द्वारा निश्चित और अबाधित विषय वाला होने पर भी, शास्त्र का एकत्व निश्चित किया जा सकता है। आग्रह आदि से भिन्न युक्ति के समाश्रयण द्वारा भी शास्त्र का एकत्व निश्चय करना चाहिए।

संशय और बाध को या संशय की बाधा को निरस्त करके लक्षण से परिच्छिन्न होकर विद्या तत्त्व की प्रकाशिका होती है। उस लक्षण को परीक्षित प्रमाण द्वारा उपदर्शित, प्रविभक्त तथा व्यक्त होना चाहिए। उस विद्या का प्रतिपादक होने के कारण शास्त्र को एक रूप ही होना चाहिए। विषय-भेद के कारण विद्या के भेद होते हैं, इसलिए उनका तात्त्विक (वास्तविक) अनैकान्तिकत्व (अस्थिरत्व) नहीं होता। और ऐसी ही साम्प्रतिकी प्रसिद्धि भी है।

सम्यक् प्रत्यक्ष के आधार पर सौन्दर्य का विचार करता हुआ न्यायतः, बहुधा लगने वाला (शास्त्र) एकरूपता को दर्शाता है।। ८।।

जो परम्परा से प्राप्त प्रभेद स्पष्ट दिखाई देते हैं, वे प्रयोग-विधि के कारण हैं अथवा रूढ़ियों के आधार से हैं।। ९।।

या एकदेशी विचार के कारण, या प्रयोजन की अपेक्षा से या भूमिभेद से उन्हें समझना चाहिए, वस्तुतः नहीं।। १०।।

और, इस प्रकार नैसर्गिक दृश्यों, काव्यों और कलाकृतियों में जो समान रूप से व्याप्त रहने वाला 'सौन्दर्य' रूप विशेष प्रतीत होता है उसके तत्त्व-ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को एक-रूप ही होना चाहिए। रसायन-शास्त्र के सूत्र या गणित के सूत्र बदलते नहीं हैं। सम्यक् प्रकार से निरीक्षित और न्याय से परीक्षित विषय सम्यग् ज्ञान उत्पन्न करता है, और शास्त्र उस (निरीक्षित और परीक्षित सम्यग्ज्ञान) का कारण होता है। भले ही, उस शास्त्र के प्रतिपादन की शैली बदल जाए, अथवा उसके प्रतिपादन का विस्तार हो जाए, किन्तु उसका सार (तत्त्व, मूल) भिन्न नहीं होता।

ऐसा नहीं कह सकते कि - विद्याओं और उनके भेद की व्यवस्थाओं के नाना रूपों का, जो कि स्पष्ट ही इतिहास में दिखाई दे रहे हैं, निवारण किया जा सकता है, जैसे प्राचीन और अर्वाचीन आयुर्वेद में भेद प्रसिद्ध ही है, अथवा जैसे प्राचीन और अर्वाचीन युगों में विद्यास्थान का भेद, त्रिदोष का सिद्धान्त, जो प्राचीन आयुर्वेद का मूलभूत सिद्धान्त है, को आधुनिक चिकित्साविद् लोग सर्वथा अमान्य ठहराते हैं, इसी प्रकार विद्याओं के चार, चतुर्दश अथवा अष्टादश भेद जो प्रसिद्ध हैं, वे आधुनिक भेदों के साथ सङ्गत नहीं होते। इस प्रकार विद्याभेद की अव्यवस्था ही सिद्ध होती है।

प्राचीन और अर्वाचीन आयुर्वेद का भेद तो प्रयोग-विधि के भेद को लेकर है, क्योंकि नवीन आयुर्वेद सुपरीक्षित प्रत्यक्ष के आधार पर चलता है, जबकि प्राचीन आयुर्वेद ने जिस-किसी प्रकार, विरूढ़ पारम्पर्य का ही आश्रयण किया है। सुपरीक्षित और दुष्परीक्षित प्रमाण के आश्रयण के भेद से उन दोनों का भेद है। और वह उन दोनों शास्त्रों को तुल्य (समान) और एक दूसरे के विकल्प के रूप में नहीं बताता, बल्कि उनका प्रमाण्य-भेद ही प्रकट करता है। प्राचीन शास्त्र में माने गये भी लक्षण लक्ष्य के अभाव में रूढि-मात्र हैं। अथवा, विषय के एक देश में कहीं, प्राचीन शास्त्र यथार्थरूप से, आधुनिक शास्त्र के साथ समञ्जस (समन्वित) हो जाता है, जैसे आमलकादि द्रव्यों के गुण-निरूपण के प्रकरण में। इस कारण उनमें भेद

नहीं है। और फिर, प्रयोजन के भेद से उसी विषय का व्यावृत्तिकृत भेद हो जाता है, जैसे राजनीति का राजधर्म से। इसी प्रकार, जैसा कि दार्शनिक प्रस्थानों में अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने भूमि-कृत भेद बताया है। वह (भूमिकृत भेद) दृष्टि-भेद के कारण विषय के स्वरूप को ही बदल देता है।

इस प्रकार, विषय के एक होने पर शास्त्र का एक होना, यह नियम निर्दोष ही प्रतीत होता है। और उसी प्रकार, आधुनिक काल की सौन्दर्यमीमांसा नैसर्गिक और काव्यकलादिगत सौष्ठव को न्यायपूर्वक परीक्षित करती हुई अपूर्व ही शास्त्र हो सकती है।

जो इस प्रकार का मत प्रतिपादित करता है उसको यह ध्यान देना चाहिए- (यहाँ से पूर्व-पक्ष के रूप में जो मत प्रस्तुत किया गया है उसका परिहार आरम्भ होता है।)

पूर्वोक्त मत के विरोध में यह शङ्का की जा सकती है कि सङ्गीत, शिल्प, नाट्य आदि शास्त्रों में अनेक प्रकार के उनके लक्षण निरूपित होते हैं और उनका लक्ष्य-भेद भी दिखाई देता है।। ११।।

तब, सबको एक में मिलाकर एक शास्त्र किस लिए ? (ऐसी स्थिति में) जो सर्वानुगत सामान्य होगा, वह क्या निष्प्रयोजन नहीं होगा?।। १२।।

यहाँ शङ्का होती है कि प्राचीन नाट्य आदि के विषय के नाना शास्त्र उस-उस शास्त्र के लक्ष्य के तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। तब एक पृथक् सौन्दर्यमात्रविषयक शास्त्र से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? क्योंकि ऐसा नहीं है कि 'जिससे यह सब विज्ञात हो जाता है' इस न्याय से, (वह सौन्दर्य-शास्त्र) उस सौन्दर्यशास्त्र से नाट्य आदि सभी लक्ष्यों में रहने वाला कोई परम अद्वय तत्त्व उपलब्ध (ज्ञात) हो जाता है, और न उससे वे नाना शास्त्र मूलतः प्रकाशित होते हैं, और ऐसा भी नहीं कह सकते कि सौन्दर्य ही वह तत्त्व है, जिससे उसके व्यञ्जक होने के कारण, माने गये राग, रूप, रस आदि पदार्थ अतुल्यकोटिक (असमानकोटिक) प्रतीत होते हैं। और, ऐंसा भी नहीं कह सकते कि अहैतुकी प्रीति का जनकत्व ही वहाँ कोई स्पष्ट सामान्य (धर्म) है, क्योंकि उन सब में रहने वाले जनकतावच्छेदकों में नितान्त वैलक्षण्य है। जैसा कि, राग में रहने वाले स्वर-संयोग के वैचित्र्य से रूप में रहने वाले वर्ण-संयोग का वैचित्र्य सर्वथा विषम (असमान) है।

दोनों (राग और रूप) में प्रीति का अनुभव करने वाले (व्यक्ति) का भी स्वराभिज्ञान वर्णाभिज्ञान उत्पन्न नहीं करता।

यह भी यहाँ ध्यान देना चाहिए कि बहुत लोग सौन्दर्य को काव्यादि में गोचरीभूत अतिशय से अलग रखते हैं। यह विवाद का विषय बना हुआ है कि दृश्यरूपगत अतिशय विशेष ही सौन्दर्य है अथवा अशेष कलाओं तथा काव्यादि में रहने वाला अतिशय भी सौन्दर्य है। मैंने अपने 'मूल्यमीमांसा' नामक ग्रन्थ में कहीं लिखा है- "सौन्दर्य नैसर्गिक दृश्य वस्तु का धर्म नहीं है, प्रत्युत कल्पना द्वारा आयोजित प्रतिभास (perception) का आलम्बन-धर्म है, (और वह) कहीं पर भी सम्भव है। सूर्यास्त अथवा फूल सब को नहीं रुचते, किन्तु मन की अवस्था विशेष में कल्पना अभ्यस्त रूढ़ि -सरणियों को लांघ कर, जिस-किसी दृश्य को लेकर अपूर्व प्रतिभास (perception) की रचना कर डालती है, जहाँ सामान्य विषय भी अर्थ-सौन्दर्य के निर्भास से गवाक्ष बन जाते हैं, जैसे टूटा हुआ अश्ववाहन (तांगा), मलिन सञ्चार-वीथिका (गली), बुझती हुई धूल में फेंकी धूमवर्तिका (सिगरेट)। पहले असुन्दर कुरूप प्रतीत होने वाले विषय दृष्टिभेद के कारण, क्षण में रूपान्तर धारण कर लेते हैं और शोभित होने लगते हैं।" इसे लेकर, सुहृद्वर दार्शनिकप्रवर (यशदेव) 'शल्य' महाशय ने अपनी "मूल्यतत्त्वमीमांसा" (पुस्तक) में लिखा है- "दृष्टि के परिवर्तन से सामने लटके हुए चित्राङ्कित विषय स्पष्ट ही रूपान्तर धारण कर लेते हैं और शोभित होने लगते हैं।" यह तो ठीक है, किन्तु वे सुन्दर हो जाते हैं, यह ठीक (सही) नहीं है। कभी भवन के अलङ्कार रूप में चित्र सुन्दर कहा जाए, किन्तु उसमें चित्रित विषय सुन्दर है यह नहीं कहा जा सकता। चित्र में अङ्कित मलिन वीथी कैसे सूर्योदय आदि रूप की भांति, सौन्दर्य का निर्भास उत्पन्न करेगी? कभी चित्रकार नैराश्य के कारण गुरुतर किसी अर्थ को सम्प्रेषित करने के लिए उस प्रकार अंकित करे, और उस प्रकार उसका व्यङ्ग्य (अर्थ) मर्म को छूने में समर्थ हो जाए, तथापि उसका अभिप्राय रमणीयता की प्रतीति उत्पन्न करना है, यह नहीं कहा जा सकता।"

यहाँ पर व्यङ्ग्य अर्थ का हृदयावर्जकत्व नयनाभिराम रूपगत सौन्दर्य से अलग किया गया है। इसकी युक्तता अथवा अयुक्तता का विवेचन बाद में करेंगे। यहाँ तो इतना ही अभिप्रेत है कि सहृदयों द्वारा श्लाघ्य अतिशय-विशेष जो कला, काव्यादि गोचर हैं वे निर्विशेष रूप से और निर्विवाद रूप

से समानपदवाच्य नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार, सौन्दर्यशास्त्र की पृथक् रूप से कल्पना ही ठीक नहीं लगती, उसका नाना प्राचीन शास्त्रों को अतिशयित करके रहने की बात तो दूर की है। बाउमगार्तन के काल से आज तक नाना अवान्तर विभागों में विभक्त और नाना विमतियों (विरोधी विचारों) से घिरा हुआ भी यह शास्त्र उसके (सौन्दर्य के) विज्ञान रूप से विकसित नहीं हुआ, प्रत्युत दर्शन रूप से ही विकास प्राप्त हुआ है। इसलिए सौन्दर्यशास्त्र, दर्शन का ही विभाग-विशेष है।

सौन्दर्य का निर्णय कैसा और किसके आधार पर हो तथा रूप कैसे, किसलिए सर्जित होते हैं, इस प्रकार चिन्तन से, ।। १३।।

तर्कशास्त्र में जिस प्रकार नाना विद्याओं की एकरूपता है उसी प्रकार, यहाँ कला आदि तत्त्व के सम्बन्ध में मानना चाहिए।। १४।।

नाना काव्य, कला आदि में पृथक्-पृथक् तत्त्व लक्षित होते हैं, (जैसे) चित्रकला में नाना मूल के वर्णों (रंगों), उनकी प्रयोग-विधियों और चित्रणीय पट आदि द्रव्यों के संयोग से रूपों की सृष्टि की जाती है। रूपभेदाः प्रमाणानि इत्यादि* द्वारा चित्र के अङ्गों का संग्रह सुविदित है। वहाँ उनमें, निर्विवाद रूप से रूप का ही प्राधान्य है। 'चित्र-सूत्र' आदि में जो तत्त्व-विचार है, उसमें चित्रणव्यापार के उपयोगी तत्त्व का विभाग चित्रणीय विषयों का निर्देश, प्रयोग-विधियों का उपदेश, उत्तम अधम आदि चित्र के लक्षणों का विवेक, नाना रूप-भेदों के लक्षण, आदर्शभूत प्रमाण इत्यादि निरूपित हुआ है। इस निरूपण में, प्रयोज्य तत्त्वों का और तत्सम्बद्ध विवेक का निर्देश होने पर भी उस विषय के दार्शनिक प्रश्न नहीं उठाये गये हैं। इसी प्रकार, सङ्गीत, शिल्प, नाट्य आदि शास्त्रों में भी देखा गया है।

---

* रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभङ्ग इति चित्रं षडङ्गकम्।।

आकृतियों का भेद, प्रमाण, भाव, सौन्दर्य-योजना, सादृश्य और वर्णिकाभेद ये चित्रकला के प्रधान छः अंग है। ("यशोधर नामक एक प्राचीन विद्वान् ने वात्सायन के कामसूत्र पर एक प्रामाणिक टीका की है। उनका कहना है कि चित्रकार को कला के उन मुख्य छः अंगों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए जिनका उल्लेख प्राचीन आचार्यों ने किया है। इसके समर्थन में उन्होंने पहले ऊपर (उद्धत) एक श्लोक उद्धत किया है।")

ख्रिस्तीय नवम शताब्दी से पूर्व के अलङ्कार-शास्त्रों में भी समान ही निरूपण-भङ्गी दिखाई देती है। नाट्यशास्त्रीय रसतत्त्व के उपक्षेप (उल्लेख) से, तथा शब्दार्थ-विचार के प्रसङ्ग से, व्याकरण, न्याय, बौद्ध, शैव आदि दर्शनों से आयातित सिद्धान्तों के सन्दर्भ में दार्शनिक विचार शब्द-शक्ति, रसानुभूति, प्रतिभा और सहृदयता को लेकर हुआ है। चित्र, सङ्गीत आदि में भी रस की व्याप्ति समर्थित है। इस प्रकार नाना लक्षण-शास्त्र तत्त्वान्वीक्षा के सूत्रों (नियमों) से निर्मित हुए हैं। उन-उन विभागों के ईक्षित अर्थ लक्षणों द्वारा व्यवस्थापित किए जाते हैं। उनकी अन्वीक्षा के द्वारा उन-उन अवान्तर विभागों में व्याप्त रहने वाले महाविभागीय तत्त्वों का विचार किया जाता है। अवान्तर विभागीय लक्षणों और महाविभागीय तत्त्वों का विभाजक भूमि-भेद प्रमाण के भेद से उत्पन्न होता है। प्रथम भूमि में, श्रवणादि प्रत्यक्ष के गोचर स्वर आदि से व्यङ्ग्य राग आदि तत्त्व लक्षणों से व्यवस्थित होते हैं, तब दूसरी भूमि में प्राथमिक लक्षणादि के परिज्ञान के साथ न्यायपूर्वक विचार उसके व्यापक सौन्दर्यानुभूति स्वरूप उसका प्रामाण्य और पुरुषार्थ-योग (मानवीय मूलकता) को परिच्छिन्न (निश्चित) करता है। इस प्रकार, काव्य, कला आदि के अनुभव को लेकर (निर्मित) लक्षण-शास्त्र हैं, उनसे वासित अन्तःकरण वाले सहृदयों, जो पद, वाक्य, प्रमाण के वेत्ता हैं, का अन्वीक्षात्मक शास्त्र सौन्दर्यशास्त्र है। और इस प्रकार इसका (सौन्दर्यशास्त्र का), दर्शन का एक विभाग होना तथा काव्य, कला आदि का अनुगत होना दृढ़ होता है। ऐसा होने पर, क्या सौन्दर्यशास्त्र रसायन, गणित आदि विज्ञानों की भांति एक अनन्य अथवा सार्वभौम शास्त्र है? इसका निर्धारण युक्ति से करना चाहिए।

ज्ञान के विषय साक्षात् निर्विकल्प रूप से स्थित नहीं हैं। वे विकल्प और अनुमान से, समझ में आने वाले तथा व्यावहारिक (व्यवहारस्तरीय) हैं।। १५।।

व्यावृत्ति; लक्षणों, बुद्धि, (=बौद्धिक अध्यवसाय) अस्ति, (=अस्तित्व के द्वारा) गुण, कार्य, तत्त्व, तथा प्रत्यय से वे आभासमान प्रतीत होते हैं (=उनके आभासों का ज्ञान होता है)।। १६।।

यदि जिज्ञासित विषय अलग-अलग, कूटस्थ, अयःशलाका की भाँति स्वरूपतः साक्षात्कार्य हों तो उनका ज्ञान भी सबके लिए स्फुट और

निर्विवाद होना चाहिए। यहाँ पर शंका की जा सकती है कि घट, पट आदि दिखाई देते ही हैं, इस प्रकार उनका ज्ञान भी सबके लिए स्पष्ट तथा निर्विवाद है। इसका उत्तर यह है कि यह लोकसम्मत बुद्धि 'क्षोदक्षम' (विचार की कसौटी पर रखने के योग्य) नहीं है। जिसे आचार्यों ने 'लोक प्रमाण नहीं है' ऐसा प्रतिपादन किया है वह तत्त्वज्ञान के सन्दर्भ में, विवाद के योग्य नहीं है। व्यवहार्य के रूप में घट, पट आदि के निर्विवाद होने पर भी घटत्व, पटत्व आदि निर्विवाद नहीं हैं। वस्तुतः अर्थों (विषयों) का प्रत्यक्ष क्षणिक आभास रूप के द्वारा ही होता है। और फिर, उसके ठीक बाद में होने वाले विकल्प के द्वारा, तत्काल, उपसंहृत (समाहृत) नाम, जाति आदि की योजनाओं, अनादि और अनुभवसिद्ध वासनाओं से बुद्धि द्वारा निश्चय अध्यवसाय का विषय होते हुए, विकल्पित रूप ही बाह्यार्थ पर समारोपित होकर व्यवहार्य वस्तु के रूप में प्रतीत होते हैं।[१] इस प्रकार, आपाततः प्रत्यक्ष भी व्यावहारिक पदार्थ परमार्थ रूप प्रत्यक्ष नहीं हैं। उनका लौकिक साक्षात्कार आभास रूप ही है, क्योंकि 'कुछ है' इस प्रतीयमान रूप से ही उनकी सत्ता का प्रथम बार उन्मीलन होता है। प्रतीति के विमर्श द्वारा स्पर्श, रस आदि और परिमाण आदि गुणों का ज्ञान होता है। उन गुणों में भी अनेक दार्शनिकों में प्रसिद्ध सापेक्ष, निरपेक्ष आदि भेद के सम्बन्ध में कहना कठिन है। आभासमान धर्म (धर्मों) के विश्लेषण, सम्बन्ध-विचार और अनुमान से उनमें कार्यकारणभाव, गुणद्रव्यभाव, सम्बन्ध-सम्बन्धिभाव इत्यादि धर्मों का निश्चय किया जाता है। और तब विकारी दृश्य-भाव के हेतु के रूप में स्वभाव-कल्पना उत्पन्न होती है। विषय-विषयी के भेद के परामर्श से विषय के उपदर्शक आत्मभूत ज्ञान का सर्वव्यापक होना तथा सब का (सब विषय प्रतीतियों का) मूल होना प्रकाशित होता है। इस प्रकार, ज्ञान की तीन भूमियां बताई जा सकती हैं, १. आभासभूमि, जो प्रत्यक्षगोचर है, २. स्वभावभूमि, जो अनुमान की गोचर है, ३. आत्मभूमि, जो साक्षात् परामर्श की गोचर है। पहली भोगभूमि (संवेदनात्मक अनुभव की भूमि) कल्पना का आरम्भबिन्दु भी है, दूसरी विज्ञान और व्यवहार की भूमि है और तीसरी आत्मज्ञान के साथ पुरुषार्थचर्या भूमि है। विश्व के मूलभूत पदार्थ या तत्त्व, जो लक्षणों या प्रत्ययों से परिच्छिन्न होते हैं वे अनेक भूमियों में विभक्त होते हैं और उन्हें, उत्तरोत्तर विमर्शसह और पूर्णतर प्रत्यक्ष बुद्धि के प्रकार, तर्क बुद्धि के प्रकार और आत्मबुद्धि के प्रकार, कहा

जा सकता है। और, यह प्रत्ययों की श्रेणी, अपनी अपूर्णता के परिहार के लिए प्रवृत्त होकर निर्विकल्प प्राय ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से लेकर आत्मज्ञान तक फैली हुई है।* प्रमाणों को ज्ञान-स्वरूप मानकर चलने वाला पक्ष, ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है यह मानने वाला पक्ष और सब विषयों को ज्ञान से अभिन्न मानने वाला पक्ष, ये यहाँ तीन वाद भी माने गये हैं। इस प्रकार सभी विषय ज्ञान रूप आत्मा के आभास हैं (तथा) नाना भूमियों वाले प्रत्ययों द्वारा परिच्छेद्य हैं।

यहाँ यह भी अवधेय है कि परिच्छिन्न प्रकाश के प्राधान्य के कारण ज्ञान ही आभास है और परिच्छेदक विमर्श के प्राधान्य से (ज्ञान ही) प्रत्यय है। इस प्रकार, गूढ़ तथा अगूढ़ स्वभाव वाले विषयों में और विविध परिच्छेदक के क्रम से विवर्तित होने वाले ज्ञान में लक्षण सदा समानकोटिक नहीं होते हैं, न प्रमाण सभी विषयों के होते हैं और न ही विद्याएं एकरूप होती हैं। विचार नाना प्रकार हैं और विद्याओं की प्रवृत्तियां भी नाना होती हैं।

दृष्टि, अनुभव, युक्तियों, आगम तथा प्रयोजन के भी भेद से विद्याओं की कल्पना के भेद होते हैं।। १७।।

कुछ विद्याएं तर्क पर आश्रित हैं जैसे गणित आदि, कुछ विद्याएं प्रत्यक्ष पर आश्रित हैं तो दूसरी आगम पर।। १८।।

अपने लक्ष्य की विधारक (अपने विषय की परिभाषा से निश्चित) विद्याएं तर्क से ही प्रवृत्त होती हैं, जैसे गणित आदि आकारमात्र में आश्रित विद्याएं हैं।। १९।।

वे देश, काल आदि पर्यायों से अभिन्न नियत क्रम वाले तत्त्व को, जो सनातन की भाँति स्थित है, को अध्यवसित (निश्चित)करती हैं।। २०।।

सौन्दर्य को विषय रूप में लेकर प्रवृत्त शास्त्र की उन (विद्याओं) से तुलना नहीं है, क्योंकि गणित आदि में अनुभूत अशेष गुणों की व्यावृत्ति होती है।। २१।।

---

* तु० हेगेल, एनत्सिक्लोपेदी, पृ०५४ प्र०(हाम्बुर्ग,१९६९)

प्रत्यक्ष और आगम द्वारा ईक्षित (दृष्ट) (विषय का) न्याय के अनुसार विचार अन्वीक्षा है, यह प्रसिद्ध ही है। न्याय कुछ पूर्वसिद्ध जैसे प्रत्ययों और नियमों को आगमित कर अनुमान और तर्क द्वारा प्रवृत्त होता है। ये मूल प्रत्यय और नियम दृष्टिविशेष को प्रकाशित करते हैं। दृष्टि-भेद से अभ्युपगम-भेद और उससे सिद्धान्त-भेद होता है। अनेक बार युक्तियों के बलाबल का विचार दृष्टि के अधीन होता है। अनुभव हेय हैं अथवा उपादेय इसके निर्धारण में, और आगमों के श्रद्धेयत्व-अश्रद्धेयत्व के निर्धारण में भी दृष्टि हेतुओं की भूमिका का काम करती है। गणित आदि जो तर्कमात्र पर आश्रित विद्याएं हैं, उनमें सम्भाव्य विषय के आकार मात्र में विश्राम लेने वाले लक्षणों का प्राधान्य होता है। वहाँ, सुख, दुःख आदि से सम्मिश्र आकारों, जो अनुभूत विषयों के उल्लेख-सूचक हैं, की अशेष रूप से व्यावृत्ति हो जाने के कारण सौन्दर्यशास्त्र की उनसे तुलनीयता नहीं है।

यहाँ शङ्का होती है कि प्रत्यक्ष विषयक विज्ञानों से उसकी (सौन्दर्यशास्त्र की) तुल्यता तो हो सकती है! इस पर कहते है-

प्रत्यक्ष-विज्ञान तुलनीय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष विषय कार्यकारणभाव से लक्ष्य होते हैं।। २२।।

अचेतनात्मक (पदार्थों में) आध्यात्मिक गुण लक्षित नहीं होते हैं। जब तक बाह्य विज्ञान वस्तुमात्र का उपदर्शक होता है तब तक इसका विषय पुरुषार्थ रूप में नहीं माना जाता। और, सौन्दर्य की पुरुषार्थता अहैतुकी रूप में प्रसिद्ध है।। २३, २४।।

अचेतन को विषय बनाने वाला, वस्तु मात्र का उपदर्शक विज्ञान आध्यात्मिक धर्म को विषय नहीं बनाता। और इस कारण वह वस्तु-विज्ञान पुरुषार्थभूत धर्म को विषय बनाने में समर्थ नहीं होता। सौन्दर्य तो पुरुषार्थ-विशेष है, वस्तुसत्त्व (वास्तविक सत्ता) के न होने पर भी, अहेतुक प्रीति की जनकता से अवच्छिन्न ही कोई अर्थ है। आत्म-परामर्श के बिना इसकी मीमांसा सम्भव नहीं। और, इस प्रकार यह मीमांसा प्रत्यक्ष-परक और तर्क-प्रधान विद्याओं से भिन्न होती है।

तार्किक अथवा प्राकृत विषय से जो विषय बाहर हैं, जो आत्मात्मीय रूप से आभासित होते हैं, लोक-चैतन्य के संश्रित और सांस्कृतिक विषय

हैं उनकी विद्याएं अलग हैं, जो चार विद्याएं पहले से विदित हैं उन्हें इनमें ही समाहृत करना चाहिए।। २५, २६।। धर्म, अर्थ आदि के शास्त्र, शिल्प और नाट्य आदि कलाएं- ये सभी पुरुषार्थ विषय तथा परम्परा से जुड़ी हुई हैं।। २७।। दर्शन से अनुगत कला आदि के पारम्पर्य की जो 'अन्वीक्षा' है वही रम्यत्व-मीमांसा (सौन्दर्य-मीमांसा) है जो निश्चय ही सांस्कृतिक विद्या है।। २८।।

लोगों में परस्पर निवेदित (सम्प्रेषित) हो रहे अभिप्राय (विवक्षित अर्थ), शब्द आदि सङ्केतों द्वारा विद्ध होते हुए, अर्थ-विश्वविशेष की रचना करते हैं। वह (अर्थ-विश्वविशेष) लोक-चैतन्य का अवलम्बन करने वाला है।[३] और तब, व्यक्तिगत देहसंश्रित मनों को पार करके स्वायत्त की भांति, शब्दप्रत्ययार्थात्मक कोई लोक भासित होता है। जैसे दूसरे में संक्राम्य होने के कारण ज्ञान विषयी का अतिक्रमण करता है और ज्ञानान्तरगोचर होने के कारण अर्थज्ञान का अतिक्रमण करता है, उसी प्रकार यह लोक भी शक्य-शक्त सम्बन्ध से आक्षिप्त होता है। स्वायत्त की भाँति आभासमान, चैतन्य के परतन्त्र इस लोक में न केवल बाह्यार्थाभास, अपितु आत्मात्मीयाभास भी उपलब्ध होते हैं। वेदान्तियों में यह तो प्रसिद्ध ही है कि सामान्य व्यवहारमें दोनों प्रकार के आभास परस्पर अध्यस्त होकर लक्षित होते हैं। जैसा कि आचार्य (आदि शङ्कराचार्य भगवत्पाद) ने अध्यास को व्यवहार का व्यापक माना है- *"युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः तमः-प्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोः इतरेतरभावानुपपत्तौ०"* इत्यादि। आत्मत्व और अनात्मत्व के बोध से संवलित बाह्य आध्यात्मिक आभास प्रियत्व, अप्रियत्व आदि के बोध के हेतु होते हैं। *"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"*- इस हेतु से आत्मात्मीयाकार रूप से ही आभास वस्तुमात्र में रहने वाले सहज ताटस्थ्य से व्यतिरिक्त हो जाते हैं (ताटस्थ्य रहित हो जाते हैं) अनात्माध्यास के कारण आत्मा में विषयता और आत्माध्यास के कारण उसमें प्रियत्वादि की प्रतीति व्यंजित होती है। स्वसम्बन्धी रूप से गृहीत आभासों में परिमित प्रमाता द्वारा वस्तु के आकार भावावसानिक वासनामूलक मनोमय बिम्बों से ढंक दिये जाते हैं। और तब, वस्तु के तटस्थ और समान (सब के लिए) रूप में भोग-वैचित्र्य उत्पन्न हो जाता है। जैसा कि 'पञ्चदशी' में विद्यारण्य मुनि ने कहा है-

"भार्या स्नुषा (पुत्रवधू) ननान्दा (ननद) याता (देवरानी-जेठानी) और माता - इस प्रकार अनेक प्रकार से प्रतियोगी की बुद्धि से (सम्बंधी की अपेक्षा से) नारी भिन्न होती है (किन्तु) स्वरूपतः भिन्न नहीं होती है।।"(४२४)

पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि विविध ज्ञानों में भेद हो सकता है किन्तु आकार भिन्न नहीं होता। स्त्रियों के शरीर में जीवनिर्मित अतिशय नहीं देखा जाता। इसके उत्तर में सिद्धान्त पक्ष का प्रतिपादन है-(श्लोक २३ यहाँ छूट जाने से (मैवं) किया गया है।)

"(ऐसा नहीं), मांसमयी नारी कोई और है, मनोमयी कोई और। मांसमयी से अभिन्न होने पर भी मनोमयी भिन्न होती है।"।। ४२५।।

और इस प्रकार, विषयों में सुखोपलब्धि ब्रह्मानन्द का ही प्रतिबिम्ब है। जैसा कि-

"यह इसका परमानन्द है, जो अखण्ड एक रसात्मक है। अन्य भूत इसकी मात्रा का उपभोग करते हैं।। १५२।।

जो-जो सुख है वह-वह प्रतिबिम्बन के कारण, ब्रह्म ही है। अन्तर्मुख वृत्तियों में इसका निर्विघ्न प्रतिबिम्बन होता है"।। १५२।।

और, इस प्रकार, विषयों पर मनोवृत्ति का आरोप, और तदनुरूप उनमें आत्मस्वरूप के प्रतिबिम्बन से स्वीयत्व, इष्टत्व और उपादेयत्व आदि की प्रतीति होती है। यही साध्यत्व की प्रतीति पुरुषार्थ-प्रतीति है। और ये इष्टत्व-विवेकसम्मतत्व इन दोनों से अवच्छिन्न विषय पुरुषार्थ के रूप में अवधृत हैं (पुरुषार्थ के रूप में निश्चित किये जाते हैं)। उनकी (पुरुषार्थों की) व्यवस्था ही शिष्टों की परम्परा से विधृत बृहज्जनसमाज, जो 'संस्कृति' कहा जाता है, के मूलधर्म के रूप में स्थिति ही 'मूल्य' व्यवस्था है। और त्रयी आदि चार विद्याओं के विषय मूल्यात्मक हैं। काव्य और कला आदि उसी प्रकार के मूल्यात्मक विषयों को रूपित और व्यञ्जित करते हैं। काव्य, कला आदि पुरुषार्थसाधक व्यापारों को विषय बनाकर सौन्दर्य-मीमांसा रूप अन्वीक्षा, जो 'संस्कृति' विषयक दर्शन का एक विभाग-विशेष है, प्रवृत्त होती है।

सामर्थ्ययुक्त होने के कारण जो इन्द्रियगोचर विषय वस्तुसत् माने जाते हैं अथवा प्रत्ययत्व के कारण जो ज्ञान-योजना के प्रकार हैं, उनसे परम्परा के क्रम से आगत पौरुषार्थ (मानव मूल्य) भिन्न हैं। जिन विद्याओं में (ये) प्रथित हैं (उनके अन्दर) इसे समझना चाहिए ।। २९,३०।।

तीन प्रकार के पदार्थ उपलब्ध होते हैं, जिनमें शब्दों की प्रवृत्ति मानी जाती है। घटपटादि, अथवा परमाणु आदि पदार्थ कारित्र युक्त प्रत्यक्षगोचर (पदार्थ) अथवा प्रत्यक्षाश्रित अनुमान के गोचर (पदार्थ)। ये पदार्थ वस्तुसत् हैं, और नाना विज्ञानों, प्रत्यक्ष-अनुमान के साधनों के प्रतिपाद्य विषय हैं। फिर दूसरे, ज्ञान के प्रकार रूप से भासमान, प्रमेय के रूप में आरोप्य होने पर भी बाह्यार्थ में नियत न रहने वाले, प्रत्युत प्रत्ययत्व मात्र के कारणभूत विषय मात्र से आक्षिप्त पदार्थ होते हैं, जैसे संख्या और द्रव्यत्व आदि की कल्पनाएं। विशुद्ध गणित और तर्क आदि विद्याएं इन कल्पनाओं का परिशीलन करती हैं। किन्तु पुरुषार्थ कार्यकारणभाव की अपेक्षा वाले वस्तु रूप बाह्यार्थ नहीं हैं, न ही ज्ञान के आलम्बन, आकारात्मक सम्भाव्य (सम्भावनागोचर) पदार्थ हैं, प्रत्युत आत्मबोध के वृत्ति-विशेष हैं। प्रसिद्ध ही है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन-ये पशुओं की भाँति मनुष्यों के भी हैं, (मनुष्यों में) एक धर्म ही अधिक होता है। और जो धर्म से हीन हैं वे पशुओं के समान हैं। और भी, (जो) साहित्य, सङ्गीत की कलाओं से विरहित है, वह पूंछ और सींग से रहित साक्षात् पशु है, जो तृण न खाता हुआ भी जी रहा है, यह पशुओं का परम सौभाग्य है (अन्यथा वह उनका भी भाग, तृणादि चट कर जाता ।)

प्रवृत्ति के पराधीन पशुओं से मनुष्य की विशेषता यही है कि वह अपने स्वभाव के समुचित विवेक द्वारा धर्म, साहित्य, सङ्गीत-कला आदि उत्तम विषयों के अनुसन्धान में लगा रहे। वे ही विषय मानवभाव/मानवता के योग्य, मानव के साध्य और मानव के लिए भावनीय हैं। उन विषयों का परिज्ञान वेद, मनीषियों की परम्परा और उन विषयों के अनुव्याख्यान से प्राप्त होता है। और, मनीषी दो प्रकार के हैं- एक तो वे, जो साक्षात्कृत विषयों का शास्त्र रूप से निबन्धन करते हैं, दूसरे वे, जो काव्य, शिल्प आदि रूप से। और काव्य, शिल्प आदि कृतियां और उनके लक्षण-शास्त्र रस, सौन्दर्य और उत्तम (श्रेष्ठ) विषयों के आम्नाय (वेद) स्वरूप हैं। उनके

आलोचन के साथ, आचार्यों के सौन्दर्य आदि तत्त्वों की अन्वीक्षा रूप (यह) अनुव्याख्यान (सौन्दर्यशास्त्र) है।

हृदय-संवाद के बिना, आस्वाद्यत्व और अर्थवत्त्व के बीच, कहीं भी केवल वस्तु के देखने से विवेक असम्भव है।।३१।।

कवियों और रसिकों का हृदय संस्कृति से वासित होता है और संस्कृति कला आदि के अनर्घ (बहुमूल्य) लोकों की योजना मानी गई है।। ३२।।

इस प्रकार, रुचि और दृष्टि दोनों ही संस्कृति-सापेक्ष हैं। सौन्दर्य का दर्शन उसी (संस्कृति) के मूल से प्रवृत्त होता है।। ३३।।

इस प्रकार, सौन्दर्य-दर्शन दर्शन होने के कारण दृष्टिसापेक्ष होता है। और चूंकि वह सौन्दर्य को विषय बनाकर प्रवृत्त होता है, इसलिए (वह) काव्य कलादि द्वारा प्रकाशित सहृदयों की रुचि की अपेक्षा करता है। दृष्टियां और रुचियां देश और काल के अनुसार विवर्तमान संस्कृतियों में तत्-तत् काव्य, कला आदि की परम्पराओं तथा ज्ञान और विज्ञान की परम्पराओं से जुड़ी प्रतीत होती हैं। उनकी अपेक्षा करके नानाविध सौन्दर्य-दर्शन प्रवृत्त होता है।

'विदि' (धातु) के चार अर्थ प्रसिद्ध हैं- सत्ता, ज्ञान, विचार और लाभ। उससे (निष्पन्न) 'विद्या' शब्द के अर्थ का इस प्रकार निर्वचन किया जा सकता है- विद्यमान अर्थों (विषयों) का विचारपूर्वक, पुरुषार्थ लाभ के लिए ज्ञान 'विद्या' है। सौन्दर्यमीमांसा का विषय सौन्दर्य है, जो प्रत्यक्ष रूपों और काव्य, कला आदि में प्रतिभासित होता है। तत्त्व-दृष्टि से अन्वीक्षा ही उसकी (सौन्दर्यमीमांसा की) विचार-पद्धति है और तत्त्वज्ञान (उसका) प्रयोजन है।

कवि, रसिक आदि की प्रवृत्ति के भेद से तथा तत्त्व-दर्शन के भेद से सौन्दर्यमीमांसा के प्रकारों के भिन्न होने पर भी विषय आदि के सामान्य होने के कारण उनमें तत्त्व-सामान्य होना ही चाहिए। और उसी प्रकार, संस्कृति-भेद और युग-भेद के होने पर भी, सर्वत्र ही नाम, रूप आदि के अन्तर्विभागों के साथ सौन्दर्यमीमांसा प्राप्त होती ही है। यह सर्वथा आधुनिक ही नहीं है, और आधुनिक मीमांसा भी एकरूप ही नहीं है।

प्राचीन पाश्चात्य संस्कृति में प्लातोन आदि, मध्यकाल में टामस, एक्विनास आदि प्रसिद्ध ही हैं। भारत में भी अभिनवगुप्त आदि (विचारकों) की यशःपताका फहरा ही रही है।

यहाँ यह विचारणीय है, वह कौन सा सामान्य मूल है, जहाँ समन्वित भी सौन्दर्यमीमांसा के प्रस्थान नाना शाखाओं की भांति फैलते हैं। संस्कृति की भूमि में बोया गया प्रतिभा का बीज रुचि, शिक्षा आदि से संवर्धित होकर, शब्द आदि उपादानों के कारण भिन्न काव्य, कला आदि वृक्षों को उत्पन्न करता है। लक्षण-शास्त्रों द्वारा उनके सामान्य विवरण संगृहीत होते हैं। और उनके द्वारा अवधारित अनुभव के क्षेत्र में साक्षात् परामर्श के योग्य तत्त्वों, उनकी प्रतिपत्ति का प्रामाण्य और उनकी अर्थवत्ता का सौन्दर्य-मीमांसा में विचार होता है। इस प्रकार प्राकृतिक और सांस्कृतिक विश्व में उत्पन्न अव्यक्त सौन्दर्य-बोध रचनाकारों और सहृदयों के हृदयों को व्याप्त करता हुआ काव्य, कला आदि के रूप से मूर्त होता है। थोड़ा विकल्प वाला (निर्विकल्प प्रधान) घन-विग्रह (सघन मूर्ति जैसा) सौन्दर्य-बोध सहज और कृत्रिम, दोनों भूमियों में लक्षित होता है। उनके विषय का विचार भी दो भूमियों का अवगाहन करता है, एक तो प्रत्युपस्थित विषय-विशेष की विश्लेषण रूप (भूमि) दूसरी, व्यापक बुद्धि-तत्त्वप्रधान मीमांसा रूप (भूमि)। सौन्दर्य-बोध पहले कहाँ उत्पन्न होता है? और कैसे शरीर-धारण जैसा करके सम्प्रेषण की भूमि में अवतरण करता है?, कैसे परीक्ष्यमाण और अन्वीक्ष्यमाण होकर तत्त्व-बुद्धि को उत्पन्न करता है? इस प्रकार का प्रश्न-समूह सौन्दर्य-मीमांसकों द्वारा स्वीकृत है। प्लातोन आचार्य ने प्रतिपादन किया है (कि) "सौन्दर्य का मूलतत्त्व नित्य, अतीन्द्रिय और बुद्धिग्राह्य है। और आत्मा, जन्म के पहले ही बुद्धि द्वारा उसका साक्षात्कार करता है, और जन्म लेकर, पुनः ऐन्द्रिय विषयों में उसका आभास देखकर, उसके मूल स्वरूप को अबोधपूर्वक स्मरण करता है।" इस ज्ञानभूमि में सौन्दर्य-बोध के नित्य होने पर भी, कालक्रम में उसका जन्म ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष सौन्दर्याभास के रूप में होता है। अनुसन्धान का विषय होकर आभास अपने मूल को सङ्केतित करता है। यदि कलाकार विषय का अनुकरण करे तो आभासाभास ही हो जाएगा। अतीन्द्रिय तत्त्व जो बुद्धि का गोचर है, दूर चला जाएगा। इसलिए आचार्य ने निरंकुश उत्प्रेक्षाओं में प्रवृत्त कवियों को मिथ्यावादी कहा है।[1] तत्त्वदृष्टि का विरोध करने वाली उसकी रूपासक्ति ही

निन्द्य है। और सौन्दर्य का पारमार्थिक अतीन्द्रियत्व प्रतिपाद्य होता है। दूसरी ओर, प्रत्यक्षवादी अतीन्द्रिय किसी तत्त्व को सत् नहीं मानते और वैसे ही सौन्दर्य को भी दृष्ट रूप का उत्कर्ष ही मानते हैं। ऐसा होने पर, सङ्गीत में सौन्दर्य साक्षात् आह्लादक होता है और साहित्य में कल्पनोद्गृहीत लोक प्रतिबिम्ब द्वारा, (आह्लादक) होता है, ऐसा समझना चाहिए ।

इस प्रकार सौन्दर्य या तो वस्तुधर्म के रूप में लक्ष्य है अथवा चित्तधर्म के रूप में। वस्तुधर्म के रूप में वह (सौन्दर्य) या तो अतीन्द्रिय होगा या इन्द्रियगोचर। अतीन्द्रिय होने पर वह बुद्धिग्राह्य, नित्य और तात्त्विक सत् है, विज्ञान-विशेष द्वारा कलाओं में निरूपणीय है। इस मत में सुन्दर और सत् का अभेद ही मौलिक है। सौन्दर्य और सत्य पर्यायभूत ही हैं। और, यह बुद्धिवाद, तत्त्ववाद अथवा सद्वाद प्लातोनीयों और मध्यकाल के क्रिस्तीय (मसीही) आचार्यों में प्रमुख रूप से लक्ष्य है। प्रकारान्तर से यही दृष्टि वेदों और आगमों में भी लक्षित होती है और आचार्यवर्य आनन्द कुमारस्वामी के द्वारा भी विस्तार से समर्थित है।[५]

दूसरे पक्ष में, वस्तु का ऐन्द्रियत्व अभिप्रेत होने पर, सौन्दर्य (उसका) रूप-विशेष ही है, ऐसा अवधारण करना होगा। प्रायः लोक में तथा अनेक रूपकलाविदों में यह मत प्रचलित है। इसे स्वीकार कर लेने पर काव्य और सङ्गीत के सुन्दरत्व की बात रचना-वैशिष्ट्य को ही लक्ष्य करेगी। किन्तु काव्योत्कर्ष इतने मात्र से पर्याप्त नहीं होगा, क्योंकि वहाँ अर्थ-प्रतिपत्तिगत अतिशय भी अभीष्ट होता है। वह यह अतिशय सौन्दर्य-पद से कहा जाए अथवा नहीं, यह असन्दिग्ध नहीं है। और फिर, यह अर्थापेक्ष आस्वाद कैसा है, और कैसे इसकी उपादेयता निर्णेतव्य है, उस प्रकार के और निर्णय का भी प्रामाण्य कैसे समझा जाए, इत्यादि प्रश्न समाधान की अपेक्षा रखते हैं। कुछ लोग आस्वाद को कल्पना के आश्रित लौकिक ही प्रतिपादन करते हैं और फिर दूसरे उसे 'लोकोत्तर'। उसके उपादेयत्व का भी अनन्यपरतन्त्र रूप से अथवा लौकिक पुरुषार्थोपकार रूप से व्याख्यान करते हैं।

इस प्रकार तीन प्रश्न प्रधान रूप से सामने आते हैं, प्रथम, सौन्दर्य रूपधर्म है अथवा अरूपधर्म; द्वितीय, काव्यादि का आस्वाद लोकसाधारण है अथवा असाधारण; तृतीय, सौन्दर्य अथवा काव्यादि का आस्वाद

स्वतन्त्र पुरुषार्थ है अथवा नहीं ? इस प्रकार इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य, अथवा बुद्धि द्वारा ग्राह्य, लौकिक अथवा अलौकिक, योग्य अर्थ सौन्दर्य है, इस प्रकार सौन्दर्य-विचार तत्तत् कला, काव्य आदि के संसार के अनुगत तत्तद् दृष्टिपरक नाना संस्कृतियों की दार्शनिक परम्पराओं में बहुधा लक्षित होता है।

यहाँ शङ्का होती है कि विद्या, कला, आचार और व्यवहार रूप, परम्परा से प्राप्त शिष्टधर्म, (जिस प्रकार) जाति, देश और काल से अवच्छिन्न होकर मिल कर 'संस्कृति' पद से वाच्य, अनियत रूप (तथा) विभिन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार नाना दर्शनों और प्रस्थानों को उत्पन्न करने वाली दृष्टियां भी हो जाती हैं। उनकी अपेक्षा रखने वाली सौन्दर्यमीमांसा भी अनियत होने के कारण लोक-समुदाचार की भांति अप्रमाण ही होगी; क्योंकि आचार्यों ने कहा है - 'लोक प्रमाण नहीं है।'

ऐसा नहीं, क्योंकि इतिहास से बोध्य सापेक्षता ही वहाँ नियम है, यह कहा जा सकता है। सौन्दर्यशास्त्र के प्रतिपादन-भेद अपने युग में प्रचार प्राप्त, कला, काव्य आदि के संसार से वासित सहृदयता के संस्कारों की अपेक्षा करके तथा दर्शनों के प्रस्थानों में प्रतिपादित दृष्टियों का अवलम्बन करके प्रवृत्त होते हैं। सहृदयता के प्रकारों तथा दृष्टि के प्रकारों के भिद्यमान होने पर भी उन्हें निरङ्कुश नहीं मानना चाहिए; क्योंकि वे इच्छा-ज्ञान-क्रियादिगत, विषय-विषयी, वाच्य-वाचक, साध्य-साधन आदि तत्त्व-व्यवस्था में प्रतिष्ठित हैं। क्योंकि नयभेद से तत्त्व अनेकान्त और विविध प्रतिपत्तियों के योग्य होता है। और, अनेकान्त सौन्दर्य आस्वाद्य है और बहुधा व्यञ्जक-भेद से उसकी प्रतीति दूसरे पर संक्रान्त होती है (दूसरों के लिए सम्प्रेषित होती है)। नय बुद्धि की प्रवृत्ति के भेद हैं अतः उसके (बुद्धि के) स्वभाव के अधीन हैं, और विषय-परिच्छेद रूप बुद्धि का स्वभाव नाना भूमिकाओं वाले तत्त्व के उद्ग्राहक प्रत्ययों से व्यञ्जित होता है। इस प्रकार बुद्धि और विषय के तत्त्वनिष्ठ प्रकारों का विभाग ही नयों के भेद का मूल है। सौन्दर्य-प्रतीति का भेद भी नाना उपाधियों से व्यङ्ग्य नाना आकारों के नाना भावों की अपेक्षा से आस्वाद्य और उपादेय होने के कारण नाना होता है।* शब्द आदि उपाधियों में रहने वाली व्यञ्जकत्व-शक्ति उपादान-

---

* तु० हेगेल, पूर्वोद्धृत पृ० ४४१ प्र०

रचना के आश्रित होने के कारण कल्पना-मूल होती है और भावों के मूल में वासनोपाधिक आत्मप्रतीति होती है। और इस प्रकार, कल्पना से रचित विषयाकार से व्यज्यमान अर्थ आत्मबोध के प्रकारभूत भाव के आलम्बन के रूप में स्फुट होता है। कल्पना से आकार की रचना होती है, और कल्पना भाव के आधार पर होती है और भाव आत्मबोध से बनता है। सौन्दर्य-प्रतीति के वैलक्षण्य के दो मूल (कारण) हैं- आत्मसंवेदन का प्रकार और कल्पना-प्रवृत्ति। कल्पना भी मानसी रचनाशक्ति है, अतः आत्मकृति ही है। जैसा कि श्रुति में आता है- 'आत्मकृति ही शिल्प है।'[६] इस प्रकार, अन्ततः आत्मसंवेदन से ही सौन्दर्य का बिम्ब प्रकाशित होता है, जैसे सूर्य-किरणों से इन्द्रधनुष। और, इन दोनों पक्षों को सम्मिलित करके कहा जा सकता है- सौन्दर्य-मीमांसा, चूंकि विषय-विषयि तत्त्व के आश्रित है और तद्गत विभाजक प्रत्ययों से (वह) नियत है (अतः) वह भी अनियत नहीं है। भावोपाधिक आत्मा प्रतिभा से मिलकर सौन्दर्य-बिम्ब को कल्पित करता है, बुद्धि की उपाधि से युक्त होकर वह (आत्मा) उसी की परीक्षा करता है। रचनाकार और सहृदय, और दोनों की मनीषाएं मूलतः तादात्म्य को प्राप्त होती हैं; क्योंकि वे आत्मशक्ति के ही दो पक्ष हैं, और आत्मप्रतीतिभेद सौन्दर्यबोध के और उसकी मीमांसा के भेद में पारमार्थिक हेतु। और यहाँ स्मरणीय है कि संस्कृति मात्र आत्मबोध का ही विस्तार है और उसी प्रकार सौन्दर्यबोध भी संस्कृति का अङ्गभूत है।

यहाँ शङ्का होती है कि आत्मबोध के प्रकारों का नियामक कौन है? और, कैसे तद्गत भेद संस्कृतियों में यादृच्छिक रूप से लक्षित होते हैं (अकारण जैसे प्रतीत होते हैं)? इस प्रकार, पूर्वोक्त आपत्ति अनिवारित (तदवस्थ) ही रह जाती है।

इस पर कहते हैं- आत्मबोध के प्रकारों का हेतु दो प्रकार का है- एक आत्मा की शक्तियों का वैचित्र्य और दूसरे, उसकी उपाधियों का वैचित्र्य। आत्मा के स्वरूप का और आत्मगत शक्तियों का निरूपण नाना आगमों तथा आचार्यों के व्याख्यानों में बहुधा उपलब्ध होता है। वे तात्त्विक विचार मुख्यरूप से शास्त्रीय विचार के अंग हैं, जो लोक में प्रसिद्ध आत्मा का स्वभाव है उसे बिना कोई हानि पहुँचाए ही व्यवहार में उसकी समीक्षा के साथ बुद्धि तक पहुँचे हैं। कला, काव्य आदि की प्रवृत्ति में तो व्यावहारिक ही मानव-स्वभाव प्रतिभास के अनुसार प्रायः गृहीत और

निरूपित होता है। प्रश्न उठता है कि ऐसा होने पर प्रतिभासमान काव्य-संसार का कौन सा सम्बन्ध है जो कि शास्त्रीय ज्ञान द्वारा प्रदत्त परमार्थ सत् के साथ है? परमार्थ काव्य, कला आदि का विषय नहीं होता और न ही काव्य, कला आदि का संसार शास्त्र का विषय होता है। दोनों ही अयःशलाका की भांति पृथक्-पृथक् अवस्थित होने से सर्वथा असम्बद्ध ही हैं। इस प्रकार पार्थक्य के व्यवस्थित होने पर आत्मा का कौन सा स्वभाव है जो सौन्दर्यशास्त्र का विषय होगा? दर्शनशास्त्र में प्रसिद्ध स्वभाव अथवा लोक में प्रसिद्ध स्वभाव?

इस पर कहते हैं- सौन्दर्य-शास्त्र द्वारा, काव्यादि में प्रतिबिम्बित आत्मा ही गृहीत होती है । प्रमातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि रूप में लक्षित मानव-स्वभाव के प्रसिद्ध होने पर भी मानवोचित साध्यसाधन-विवेक असन्दिग्ध रूप से प्रसिद्ध नहीं है। प्रमातृत्व के प्रसिद्ध होने पर भी प्रमाणों की संख्या, विषय-तारतम्य आदि प्रसिद्ध नहीं हैं। कर्तृत्व के प्रसिद्ध होने पर भी उसमें पुरुष-स्वातन्त्र्य की इयत्ता विदित नहीं है और कर्तव्य-विवेक का मूल प्रसिद्ध नहीं है। इसी प्रकार भोक्तृत्व के प्रसिद्ध होने पर भी श्रेयस् और प्रेयस् का विवेक प्रसिद्ध नहीं है। प्रत्युत्पन्न अपनी अवस्था को जानता हुआ भी मानव भावी वृत्त अथवा नियत मृत्यु के बाद की दशा को नहीं जानता। और उस कारण वह संशय, आशा और भय आदि से आन्दोलितचित्त होकर सम्भाव्य तत्त्वों की कल्पना करता है। और, इस प्रकार मानव-स्वभाव के सामान्यतः प्रसिद्ध होने पर भी व्यवहार में भी संशय, जिज्ञासा और श्रद्धा आदि का अवकाश (अवसर) होता ही है। 'उत्पन्न होओ, मरो, खाओ, पिओ' इत्यादि स्थूल बोध की भूमि पर, मानव के चरित और उसके स्वभाव के विदित होने पर भी शास्त्र से उसके सत्त्व और असत्त्व के निर्णय के लिए विवेक की अपेक्षा होती है। इस प्रकार अनित्य वस्तु के रूप में मानव-स्वभाव और उसके चरित के विदित होने पर भी परमार्थतः वह विदित नहीं होता। व्यावहारिक अनुभव से जो विषयाभास प्राप्त होते हैं उनकी परीक्षा करके प्राकृत पदार्थ-शास्त्र वस्तु के स्वभाव का अवधारण (निश्चय) करते हैं, और वह ज्ञान, 'सूर्य स्थिर है और पृथ्वी चलती है' इत्यादि ज्ञान व्यवहार का साधक होने के कारण उनकी भी श्रद्धा का विषय होता है जो शास्त्र से अनभिज्ञ होते हैं। इस प्रकार भोगात्मक आभासों की परीक्षा करके जिन श्रेयोरूप अर्थों का पुरुषार्थ-शास्त्र निर्धारण करते हैं

उनका भी श्रद्धा विषय के रूप में, व्यवहार में विवेकार्थी लोग अभ्युपगम करते ही हैं। इस प्रकार व्यवहार-भूमि पर, मनुष्य अपरोक्ष आभासों, जो युष्मत्-अस्मत् प्रत्यय के गोचर हैं, का अर्थार्थी होने के कारण शास्त्रीय विज्ञान द्वारा वस्तु-अवस्तु रूप से और अर्थ-अनर्थ रूप से विवेक करता हुआ प्रवृत्त होता है, इस विवेक में द्रव्यत्व, कारणत्व आदि प्रत्यय के साथ प्रमाणवृत्ति का प्राधान्य स्पष्ट होता है।

काव्य, कला आदि में तो प्रतिभास-भूमि से आरम्भ कर व्यवहार्य वस्तु-अवस्तु के भेद की उपेक्षा करके अर्थ-अनर्थ का भेद ही प्रतिबिम्ब की भांति स्फुट किया जाता है, और, इस प्रकार पुरुषार्थ-विवेक के रहने पर भी विषय-परतन्त्र प्रमाण-वृत्ति के स्थान में विषयोपरचन में स्वतन्त्र कल्पना-वृत्ति ही प्रधान होती है, और, वह कल्पना स्वतन्त्र वस्तु के विज्ञान से भिन्न होती हुई भाव-वर्णों से अपने को ही आलम्बन के रूप में सूचित करती है। व्यावहारिकी प्रज्ञा यथाभूत कारित्र-लक्षित बाह्य विषयाकारों का अध्यवसाय ज्ञान-विषय निश्चय करती है। कवि की प्रतिभा विषयि-परामर्श से सघन भाव को आकार बनाती है। व्यवहार में विषय की प्रमिति का प्राधान्य होता है। काव्य-संसार में आत्म-परामर्श के ही प्राधान्य के कारण आत्मभाव के प्रकार ही तद्विषयक रुचि और दृष्टि के निर्णायक होते हैं, और इस प्रकार, सौन्दर्यमीमांसा के पूर्वोक्त स्वरूप का संग्रह किया जा सकता है-

सौन्दर्य का शास्त्र न अपूर्व है और न ही सदैव एक रूप है। उसका विषय बाह्यार्थ नहीं होता है और न ही वह (सौ०शा०) लक्षण के एकमात्र आश्रित होता है। पुरुषार्थ-विशेष की जो साम्प्रदायिकी अन्वीक्षा है वह सौन्दर्यमीमांसा है, वह सापेक्ष है तथा उसे इतिहास से जानना चाहिए ।। ३४,३५।।

और, जो इस मीमांसा का आधुनिक रूप क्रम से समुल्लसित है उसका कारण काव्य, कला आदि के वैलक्षण्य के भेद के साथ दृष्टिभेद का विकास ही है। अब, पुरुषार्थों में ज्ञान और धर्म के अतिरिक्त सौन्दर्य को भी पृथक् गिना जा रहा है, और प्रमाणों में आगम को नहीं माना जा रहा है। देवाख्यान और वीराख्यान अश्रद्धेय होने के कारण रुचि का संधारण नहीं

करते। कलाओं में भी उस प्रकार के आख्यानों के चित्रण की उपेक्षा ही की जाती है। प्राकृतजनों का समुदाचार, मध्यम और अधम वर्ग के लोगों, जिनकी प्रकृति प्रायः अनुत्तम होती है तथा शील उच्चावच होता है, का नैसर्गिक (स्वाभाविक) चरित, और परस्पर विरोध से निर्मित विकार वाली लोक-मर्यादा साहित्यकारों और कलाकारों की रचनाओं के विषय हैं। और रचना-व्यापार में भी, परम्परा से निरपेक्ष स्वातन्त्र्य में ही आधुनिकों का बड़ा आग्रह होता है। और, इस प्रकार विचार-पद्धति के भिन्न होने और लक्ष्यभेद के कारण रुचिगत संस्कारों के भिन्न होने पर सौन्दर्य-बुद्धि-मीमांसा ने भी नया ही रूप धारण किया है।

(सौन्दर्यशास्त्र के) अधुनातन रूप (सौन्दर्य)का कारण अभिनव मति (बुद्धि) है। सौन्दर्य एक पृथक् ही पुरुषार्थ है, जो ज्ञान और धर्म से विलक्षण है।। ३६।।

मनीषियों ने विज्ञान मात्र के प्रामाण्य का प्रतिपादन किया है। सौन्दर्य- बुद्धि के प्रामाण्य में (उससे) शङ्का भी उपस्थित होती है। सो, सौन्दर्य के विषय में किया गया निर्णय किस प्रकार ज्ञान की स्थिति तक पहुँच सकता है? क्योंकि लोक (संसार) में निरङ्कुश नाना रुचियां दिखाई देती हैं।। ३७, ३८।।

और, दार्शनिकप्रवर ह्यूम ने वहाँ नये प्रश्न उठाये हैं। प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, यह प्रतिपादन करते हुए उन्होंने वासना के अनुरूप (वासनानुगुण) रुचिरत्व का प्रत्यक्ष ही सौन्दर्य-बुद्धि है, यह सिद्धान्त स्थिर किया है।[७] जर्मनी के दार्शनिकप्रवर आचार्य काण्ट ने सौन्दर्य-बुद्धि की ज्ञान से भिन्नता ही प्रतिपादित की है। ज्ञान का निर्धारण सत्य-असत्य रूप से किया जाना चाहिए; किन्तु सौन्दर्य-बुद्धि वैसी नहीं है, क्योंकि वह कल्पना के आश्रित है।[८] तब से लेकर प्रायः ही सौन्दर्य-तत्त्व के विचारकों ने सौन्दर्य-बुद्धि का विवेचन ज्ञान-मीमांसा की पद्धति से किया है। वहाँ तत्त्वनिर्णय ज्ञान-स्वरूप के विचार की अपेक्षा करता है।

विज्ञान निराकार नहीं है और न ही यथार्थ का उपदर्शक है। व्यवहार में, कलादि में नाना विषयों की कल्पना की जाती है।। ३९।। प्रतिभास की रचना चिद्वृत्ति का अनुगमन करती है। ज्ञान, कर्म और भाव में, विविध

वृत्तियां कही गई हैं।। ४०।। ज्ञान को वस्तुतन्त्र (वस्तुपराधीन) माना गया है। कर्म ज्ञान का अनुधावन करता है। अनादि वासना से लब्ध होने वाले धर्मों से वस्तु विकल्पित होती है।। ४१।। विधिज्ञानपूर्वक पुरुष स्वतन्त्र कर्ता है। विधि के प्रत्यायक धर्म स्वातन्त्र्य के विकल्पक हैं। विषयी भाव में विषय बनाता है, वस्तुतः नहीं। वहाँ, इच्छा से प्रतिबिम्बरूप आत्मा का सृजन करता है। स्वतः स्फुरित बुद्धि से दृश्यमान विषय विकल्पित होते हैं। (तब) बाह्य रूप से स्थित सौन्दर्य भीतर प्रतीत होता है।। ४२-४४।।

आकारों की विषयनिष्ठता मानने वाले बाह्यार्थवादी नैयायिक, वैभाषिक आदि ज्ञान को स्वतः आकार रहित प्रतिपादन करते हैं। उनके विरोध में सौत्रान्तिक आदि द्वारा प्रतिपादित विकल्पितार्थवाद ही यहाँ उससे युक्ततर है यह स्वीकार किया जा रहा है।[१] इस प्रकार विषयों में दृश्यमान रूप बाह्यार्थ-प्रतिभास को लेकर नानाविध कल्पना से सृष्ट होता है। और, चैतन्य की तीन विधाएं प्रसिद्ध हैं- ज्ञानसम्बद्ध, कर्मसम्बद्ध और भावसम्बद्ध। ज्ञानसम्प्रयुक्त कल्पना द्रव्यत्व, कारणत्व आदि वस्तु-प्रकारों को आविर्भूत करती है, कर्मसम्प्रयुक्त कल्पना श्रेयस्त्व, नियोज्यत्व आदि विधिज्ञान के अन्तर्भूत आत्मसम्बद्ध प्रकारों को उन्मीलित करती है; और फिर, भावसम्प्रयुक्त कल्पना विषय को, माया की भाँति चमत्कारी रूप से रूपान्तरित करती है। वर्णच्छटा से चमकीले इन्द्रधनुष अथवा प्रत्यूष की कान्ति वाले पाटल में प्रत्यक्ष की भाँति दृश्यमान सौन्दर्य वस्तुतः कल्पना-निरपेक्ष नहीं है।

ऐसा कहते हैं-लक्ष्य अपने हेतु से कृत नहीं, (प्रत्युत) प्रतिभास द्वारा रचित होता है। कल्पना से रुचि और कृति, दोनों ही साथ उत्पन्न होती हैं ।। ४५।। रम्यवस्तु का उन्मीलन, काव्य, कला आदि की रचना और आस्वाद, ये सब व्यापार साथ ही प्रथम बार कवि में (उत्पन्न) होते हैं। तदनन्तर, विद्वानों में लक्षणों पर आश्रित समीक्षा होती है। वह बुद्धि लक्ष्य का अनुसरण करने वाली होती है, और शास्त्र रूप से स्थित होती है ।। ४६, ४७।।

सौन्दर्यभास, उस (सौन्दर्य के) विषय की कल्पना और उसका आस्वाद एक साथ ही प्रथम बार कवि, कलाकार अथवा जिस किसी शिल्प से अनभिज्ञ व्यक्ति की भी मनोभूमि में सहज प्रतिभा से प्रेरित होने पर

तत्काल स्फुरित होते हैं। कहीं पर पामर जन तक भी चन्द्र अथवा कमल के दर्शन से तत्काल कविता करने लगता है, और पण्डितों जैसा व्यवहार करने लगता है। यह सौन्दर्य-बुद्धि नाना भूमियों में लक्षित होती है।

पहले, एक विलक्षण ही प्रत्यक्ष-बुद्धि उत्पन्न होती है, जिसकी अन्तर्निगूढ जैसी चमत्कारकता भासित होती है। तदनन्तर, सहृदयजन उसमें गुण-दोष का विवेचन करते हैं। उनका वह (गुण-दोष विवेचन) या तो स्वानुभूति के प्रमाण के आधार पर होता है या न्याय (तर्क) के आधार पर।। ४८, ४९।।

लक्षण आदि का निरूपण वहाँ पहले होता है। शास्त्र लक्षणादि-प्रधान कहा जाता है। मूल कल्पनाएं तत्-तत् आलोचना-शास्त्रों द्वारा प्रयुक्त होती हैं। उनकी अन्वीक्षा तर्क द्वारा की जाती है। वही सौन्दर्य-दर्शन है। उसका विषय सौन्दर्य होता है, जिसका पता प्रत्यालोचन से चलता है। अन्वीक्षा तत्त्व-जिज्ञासा से होती है। तर्क उसका साधन माना जाता है ।। ५०-५२।। फिर, उन अनेकान्त और प्रसङ्ग आदि की दृष्टि से जो उन दर्शनों की मूलदृष्टि का विशेष चिन्तन होता है उसे प्रज्ञा माना जाता है।। ५३।।

बुद्धि की चार भूमियां हैं- प्रत्यक्ष, अन्वीक्षा, समीक्षा और प्रज्ञा। सौन्दर्यविषयक, प्रतिभोन्मेष की जननी पहली भूमि प्रत्यक्षबुद्धि ही है। वहाँ मेघ या युवति के दर्शनमात्र से, जिसमें यह वचन, कि यह मेघ है, यह युवति है, कहने से अपना अर्थ पूरा कर लेता है, कुछ भी सौन्दर्य का दर्शन नहीं बनता, क्योंकि उस प्रकार के दर्शन और वर्णन जरद् वैज्ञानिकों, जिनके हृदय-कपाट बंद हो चुके हैं, में भी प्राप्त होते हैं। किन्तु जहाँ, 'अहो मेघः', 'अहो युवतिः' इत्यादि वचन की प्रवृत्ति लक्षित होती है वहाँ ईषद् दृष्ट तथा विकल्पित सौन्दर्य के प्रकाशन में वाणी की दरिद्रता को ही कारण समझना चाहिए। कवि की सौन्दर्य-बुद्धि तो व्यक्त एवं स्फुट बिम्बरूप प्रादुर्भूत होती है, 'वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श;' 'कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्' इत्यादि वाक्यों द्वारा। यह प्रत्यक्ष सौन्दर्य-बुद्धि यथास्थित घटपटादि के सविकल्प प्रत्यक्ष के सदृश नहीं है, प्रत्युत यह नाना मात्राओं के भेद से प्रतिभा की स्फूर्ति ही है। और इसका बाहर प्रकाशन तत्-तत् सङ्केतोपादान के विरचन-पाटव के अधीन है। और, यह प्रतिभा दो प्रकार

की होती है- कारयित्री और भावयित्री, यह प्रसिद्ध ही है। किन्तु यह समझना चाहिए कि रचना में प्रवृत्त कवि अथवा कलाकार के मन में पहले दोनों प्रतिभाओं की स्फूर्ति होती है। कवि भावन करता हुआ ही रचना करता है। दूसरों के समक्ष, शब्दादिसंकेत के उपादान के व्यक्त रूप ही प्रस्तुत किये जाते हैं। निर्विकल्पक द्वारा ग्राह्य अव्यक्त सा बाह्य अर्थ, व्यावहारिक विकल्प द्वारा ग्राह्य अर्थ, न्यूनाधिक स्फुरित प्रतिभा द्वारा विकल्पित अर्थ, बाह्य उपादान द्वारा रचित संकेतकृत व्यक्ति (प्रकाशन) वाला अर्थ इत्यादि अनेक रूपों से सम्प्रेष्य अर्थ सामने रहता है। अर्थ का दर्शन, उसका आस्वाद, उसका विकल्पन, अपने द्वारा विकल्पित का दूसरे पर सम्प्रेषण, यह सब व्यापार विवेचनीयत्व की स्थिति में भी अविच्छिन्न रूप से समान अपरोक्ष बुद्धि की धारा में संलग्न होता है।

किन्तु उसका विवेचन बुद्धि का भिन्न ही व्यापार है, जो व्यावृत्ति-प्रधान है, लक्षणाध्यवसाय पर आधारित (=विशिष्ट स्वभाव के अवधारण पर) तथा उन-उन शास्त्रों के अङ्ग के रूप में प्रवृत्त है। यह भूमि समीक्षात्मिका है, यह कहना ठीक होगा। नाना शास्त्रों के संगृहीत लक्षणों में उनके व्यापक तत्त्वों की अन्वीक्षा उनका दर्शन है, इस प्रकार सौन्दर्यमीमांसा भी अभिधान-योग्य है। ये मीमांसाएं बहुत प्रकार की हैं और आगे भी (एक उच्चतर स्तर पर) विचारयोग्य हैं। और उस विचार-सरणि को 'प्रज्ञा' कहना चाहिए। इसलिए कहते हैं-

सौन्दर्य-बुद्धि प्रतिभान और कृति के कारण दो प्रकार की है। काव्यादि की रचना करती हुई, उनके आस्वाद में प्रवृत्त जो साक्षात्कारिणी बुद्धि है वही यहाँ प्रतिभा कही गयी है। वही पूर्व कल्पना, वही रचना और व्यक्ति भी है।। ५४, ५५।।

अदृष्ट रूप हेतु से उसकी कहीं पर स्फूर्ति होती है। सहज अथवा तत्क्षण भी वस्तु श्री-वासित हो जाती है। उससे चारों ओर सृष्टि चमत्कारवती प्रतीत होने लगती है, पत्थर जैसा सम्पूर्ण जगत् तत्क्षण सरस लगने लगता है।। ५६, ५७।।

रचना, विषय और आस्वाद, इन तीनों का जंहाँ लक्षणों से परीक्षण किया जाता है, उसे 'शास्त्र' कहते हैं।। ५८।।

नाट्य, शिल्प आदि के शास्त्रों की समान (अनुगत) तत्त्वों के आधार पर न्यायपूर्वक जो अन्वीक्षा है, उसे मीमांसा कहते हैं।। ५९।।

सौन्दर्य-बुद्धि पहले उत्पन्न होती है, तब परीक्षित होती है और तदनन्तर उसकी न्याय से अन्वीक्षा होती है, इस प्रकार यह ज्ञान-विषयक प्रक्रिया त्रिपर्वा है।। ६०।।

क्योंकि रचनायुक्त विषय रूपात्मा ही प्रतीत होता है, इसलिये वह प्राथमिक प्रियत्व बुद्धि कृति से वैसे ही उत्पन्न होती है जैसे मानव प्रकृति से। इस सविषया बुद्धि का लक्षणों द्वारा अवधारण होता है। गुण और दोष की परीक्षा भी तत्तत् शास्त्र में की गई है।। ६१,६२।।

जिसके द्वारा, प्रतिभास से लेकर परीक्षा पर्यन्त बुद्धि की तत्त्वतः और हेतुतः अन्वीक्षा होती है उसे मीमांसा कहते हैं।। ६३।।

पहली उस सौन्दर्य-बुद्धि में रसज्ञों को दो बातें स्फुरित होती हैं- विशिष्ट रूपों वाला संसार और संस्कार। उन दोनों को आगमित कर लक्षणों का निरूपण और उससे संलग्न गुण, दोष का विमर्श होता है। सौन्दर्य-बुद्धि की मीमांसा उसे लेकर होती है और आगे, तत्त्वदृष्टिविशेष भी उसी प्रकार आगमित होता है।। ६६।।

(यह) मीमांसा तीन का आक्षेप करती है-रूप संसार की पूर्वता, रस-संस्कार की पूर्वता और दृष्टिपूर्वङ्गमत्व।। ६७।।

सौन्दर्यमीमांसा जैसे सामने कोई वस्तु हो उस प्रकार किसी सौन्दर्याख्य धर्म की आलोचना नहीं करती, प्रत्युत उसमें अनुगत तत्त्व की जिज्ञासा द्वारा उस अर्थ की आलोचना करती है जो प्रतिभा से विकल्पित, संकेत द्वारा प्रत्यायित, लक्षण द्वारा विभक्त, सहृदय व्यक्ति के निर्णय से प्रमाणित और चमत्कारी होता है। और, मीमांसा दृष्टिविशेष का अवलम्बन करती हुई जिस बुद्धि की अन्वीक्षा करती है वह रूप-संसार का अवलम्बन लेती है तथा सहृदयता के संस्कार से सम्प्रयुक्त होती है। दृष्टि, रूपसंसार और सहृदयता-संस्कार न सर्वसाधारण हैं और न ही सनातन। काव्य तथा कलाकृतियों से निर्मित रूपसंसार और उसके परिशीलन की वासना वाले संस्कार, और उसके परिशीलन की वासना रूप संस्कार सहृदय परीक्षकों द्वारा अनुमोदित होकर इतिहासक्रमविवर्ती (इतिहास में क्रमिक

विकासशील) होते हैं। उनकी उपलब्धि देश, काल से भिन्न सम्प्रदाय द्वारा ही होती है। जैसा कि,

देश और काल के प्रभेद से रूपसंसार जाना जाता है। उसके आस्वादन के संस्कार सम्प्रदाय से गृहीत होते हैं ।। ६८।।

सम्प्रदाय से समागत दृष्टियां भी उसी प्रकार प्राप्त होती हैं, क्योंकि रुचि, दृष्टि और प्रवृत्तियों का समवाय 'संस्कृति' है ।। ६९।।

संस्कृति अविच्छिन्न होकर भी देश तथा काल से भिन्न होती है। एक (वह संस्कृति) अनेक रूप से मनुष्यों की परम्परा में विवर्तित होती है।। ७०।।

इस प्रकार संस्कृति के ही अधीन मीमांसा भी एकरूपा नहीं है। पूर्वोक्त हेतुओं के सन्दर्भ में उसका पुनः आलोचन होता है ।। ७१।।

अन्वीक्षा, कोई एक पद्धति है जो कि बुद्धि की नूतन पद्धति है, जिसमें इतिवृत्त (इतिहास) की अपेक्षा होने पर भी तत्त्व-विचार होता है।। ७२।।

इस प्रकार सौन्दर्यमीमांसा में रहने वाले सापेक्षत्व के दो अंश हैं- सांस्कृतिक लक्ष्य-भेद और तात्त्विक दृष्टि-भेद। ये दोनों अंश स्वरूप से सम्बद्ध नहीं हैं। ऐतिहासिक लक्ष्य-भेद के क्रम से उसके कारण से होने वाले मीमांसा के भेदों का प्रतिपादन किया जा सकता है, जैसे प्राचीन यवन सौन्दर्यमीमांसा का अथवा प्राचीन भारतीय अलङ्कार-शास्त्र में की गई मीमांसा के अंशों का; किन्तु इस प्रकार का विवरण इतिवृत्त-निरूपण ही होगा। उसमें तत्त्वविचार संगतिलाभ द्वारा विश्रान्त नहीं होगा। और इतिहास की अपेक्षा न करके उन पर विचार मीमांसाओं की परम्पराओं में उनमें से किसी एक का समर्थन होगा अथवा किसी मीमांसान्तर का, और वह वैसे ही सापेक्ष होगा। इस प्रकार इतिहास की उपेक्षा न करके तत्त्वमूलक विचार होना चाहिए। उस प्रकार की विचार-पद्धति मीमांसा-विशेष को अतिशयित करती हुई यहाँ 'प्रज्ञा' कही जाती है। विद्येतिहास की सहायता से तत्त्व-निर्णय में सम्भाव्य दृष्टियों के बलाबल का विचार आरम्भ करते हैं। और, दृष्टि कौन-सा पदार्थ है, इस प्रश्न पर कहते हैं-

प्रमाणों द्वारा अर्थ का विशेष ज्ञान होता है और तर्क से उस (अर्थ) की अन्वीक्षा होती है। तर्क की अवधि शङ्का मानी जाती है। तर्क प्रमाण का उपकारक होता है ।। ७३।।

युक्तिमूल होने के कारण उसमें प्रतिपत्तियों की अपेक्षा होती है। वे (प्रतिपत्तियां) मनुष्यों के ज्ञान की इयत्ता, सम्भव, असम्भव और विवेक का निर्देश करती हुई 'दृष्टियां' कहलाती है। वे लक्ष्य के एक देश में होती हैं, इसलिए न पूर्ण होती हैं और न ही सङ्गत होती हैं ।। ७५।।

तत्तद् दृष्टिमूलक तत्त्वप्रत्यय विविध होते हैं। उनके बीच के विरोध के परीहार में प्रज्ञा निषेधिका युक्ति है ।। ७६।।

वादों में अनेकान्तता के आने से, सप्रसङ्ग* होने से (स्वगत विरोध के प्रकट होने पर) विवादी तत्त्व भी क्रमानुसार संवादी हो जाते हैं।। ७७।।

पहले सुप्रसिद्ध दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं फिर निकषों और लक्षणों का, बुद्धि निर्धारण करती है।। ७८।।

तब न्याय की दृष्टि से व्यापक तत्त्वों की अन्वीक्षा होती है। उसके बाद फिर तत्तद् वादों की अनेकान्त विचारणा होती है।। ७९।।

इस प्रकार ज्ञान की अनेक भूमियां प्रतिभास से लेकर प्रज्ञा तक समुल्लसित होती हैं। किन्तु यह ध्यान देना चाहिए कि बहुधा प्रज्ञा को प्रतिभा का पर्यायान्तर रूप से प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः, मूल तत्त्वों की परीक्षा करती हुई, उन्हें अतिक्रमण करती हुई बुद्धि एक ओर निषेधात्मिका होती है तो दूसरी ओर लोकोत्तर परमार्थ का साक्षात्कार करने वाली प्रतिभा होती है। प्रकृत विचार-सन्दर्भ में तो प्रज्ञा दर्शन के प्रस्थानों की मूलप्रतिपत्ति की परीक्षा रूप है और प्रतिभा साक्षात्कारिणी बुद्धि है इतना ही अभिमत है।

परस्पर विरोधी दर्शन के नाना प्रस्थानों में कौन श्रेयान् है इस विषय में तीन विकल्प हो सकते हैं- अपना अभिमत ही जो कोई प्रस्थान-विशेष है वह श्रेयान् है, अन्य प्रस्थान नहीं, यह प्रथम विकल्प है; परस्पर एक-

---

* प्रसङ्ग का पारिभाषिक अर्थ है तार्किक विरोध का आपादन। माध्यमिक बौद्ध दार्शनिक सब मतों में अन्तर्निहित विरोध प्रदर्शित करते थे। इस तर्कविधि को प्रसङ्गानुमान कहा जाता है। पश्चिमी डायलेक्टिक से यह तुल्य है।

दूसरे से व्याहत होने के कारण सभी प्रस्थान तिरस्कार के योग्य हैं यह दूसरा विकल्प है; सभी सापेक्ष रूप से सत्य हैं, अतः उनसे व्यापक और बृहत्तर सत्य का अन्वेषण करना चाहिए, यह तीसरा विकल्प है। किन्हीं दार्शनिकों ने तत्तत् प्रस्थानों के अनैकान्तिकत्व की आलोचना करके परिच्छेदातीत ज्ञान का अन्वेषण किया है। सभी परिच्छिन्न तत्त्वों का निषेध करने वाली, परम ज्ञान के प्रति उन्मुखता ही बुद्धि की प्रज्ञा है। जैन, माध्यमिक, प्लातोन, हेगेल, मार्क्स आदि ने नाना प्रज्ञावादों का प्रतिपादन किया है, जहाँ दर्शनों की सापेक्षता में भी सत्यत्व, और ऐतिहासिकत्व में भी तात्त्विकत्व माना गया है।[१०]

जैन लोगों ने नय-भेद के आधार पर केवली की बुद्धि के प्रतियोगी अनेकान्तवाद का प्रतिपादन किया है।। ८०।।

माध्यमिक बौद्धों ने परिच्छिन्न स्वभाव वाले अर्थों के प्रसङ्गापादन द्वारा तत्त्व-शून्यता स्थापित की है।। ८१।।

प्लातोन ने ज्ञान-सूर्य को देखने की इच्छा से सभी विज्ञान-तत्त्वों के मूल के अन्वेषण में तत्पर बुद्धि को प्रेरित किया है ।। ८२।।

विरोध के परिहार से स्वप्रकाश आत्मा के प्रत्यय में सभी प्रत्यय लीन हो जाते हैं, यह हेगेल का निश्चय (सिद्धान्त) है।। ८३।।

इतिहास के क्रम से ही तत्त्व के निश्चय उत्पन्न होते हैं। वे (निश्चय) तत्तत् आग्रहों के कारण सापेक्ष तथा परस्पर विरोधी होते हैं।। ८४।।

यह जो मार्क्स का सिद्धान्त है वह बहुत प्रसिद्ध हुआ। इन सभी मतों में कोई प्रतिष्ठा (स्थिरता?) प्राप्त नहीं है।। ८५।।

लक्ष्यों अथवा प्रत्ययों का अशेष ज्ञान असम्भव है, क्योंकि अद्वैत परमार्थ का ज्ञान द्वैत की बुद्धि से उपलब्ध नहीं होता।। ८६।।

यदि सभी तत्त्वों के प्रत्यय विदित हो जाएं तो उनके आलोचन तथा तत्तत् दोषों के परिहार से सर्वसंग्राहक कोई महातत्त्व का प्रत्यय प्राप्त (ज्ञात) हो जाए। किन्तु जो 'सत्' ऐसा प्रत्यय सर्वानुगत रूप से कल्पित है वह अशेष का व्यावृत्त रूप होने से असत् से अलग नही किया जा सकेगा

ऐसा 'अभियुक्तों'* ने कहा है। इस प्रकार के अनुगत और व्यावृत्तात्मक प्रत्यय तो निर्विशेष के ज्ञापक होने के कारण किसी के भी संग्राहक नहीं होते; क्योंकि जिन सामान्यों ने विशेष का परित्याग कर दिया वे विशेष के अवबोधन में समर्थ नहीं हो सकते। गोत्व, घटत्व आदि की व्यावृत्तियाँ, उत्सर्ग-सूत्र की भाँति व्यवहार के उपयोगी नहीं होती हैं।

अतः परमतत्त्व के रूप में निर्धारित सत् निर्विशेष होने से किस प्रकार विश्व का मूल होगा ! 'जिसके विज्ञात होने पर यह सब विज्ञात हो जाता है।'** और सविशेष होकर सत् गुण-कर्म विशिष्ट द्रव्य है, ऐसा ही समझना चाहिए। किन्तु द्रव्य का प्रत्यय 'प्रसङ्गाहत' (विरोधग्रस्त) है, क्योंकि धर्म और धर्मी परस्पर सापेक्ष होते हैं, क्योंकि धर्मी का ज्ञान धर्म के बिना नहीं होता। इस प्रकार प्रतीतिविषय मात्र के निरूपक प्रत्यय तात्त्विक नहीं हैं। सविशेष सामान्य के ज्ञापक प्रत्यय की श्रेणी में समर्थतम प्रत्यय खोजना चाहिए। परमतत्त्व को विषय रूप में अध्यवसित करते हुए तथा उसके निरूपक प्रत्ययों में व्यापकतम अविशेष सत् से आरम्भ करके विशेष-समृद्धि का अन्वेषण करते हुए हम विशेष्य-विशेषणता के अवगाहकों में द्रव्यत्व, हेतुत्व आदि प्रत्ययों को प्राप्त करते हैं। और, यह सब प्रत्यय-समूह विषयभूत सत् का ही विस्तार है। किन्तु इससे विषयी ज्ञान और उसके अव्यतिरेकी धर्मों का निरूपण नहीं हो सकता। इस पर शंका होती है कि कुछ लोग ज्ञान की, गुण अथवा कर्म के रूप में कल्पना करते हुए उसके आश्रय के रूप में आत्मा की भी द्रव्य के रूप में कल्पना करते हैं। इस प्रकार ज्ञान और आत्मा भी द्रव्य, गुण, कर्मादि सत् के प्रभेदों के निरूपक प्रत्ययों द्वारा सम्यक् प्रत्येतव्य (ज्ञेय) हैं। इस पर (समाधान करते हैं कि) इस प्रकार ज्ञान अथवा आत्मा का स्वरूप नहीं समझा जा सकता, प्रत्युत (इसके विपरीत) ज्ञान और आत्मा भी अपने स्वरूप से गिराये जाने पर जडविषयीकृत सिद्ध होंगे । जिस विचार में विषय और विषयी का विवेक होता है तथा जो तत्त्वजिज्ञासा से प्रवृत्त होता है वह तटस्थ जडविषयता मात्र के परिच्छेदक प्रत्यय में विश्रान्त नहीं होता, जो विषय सारतः साक्षिभास्य होता है वह स्वतन्त्र रूप से अवस्थित होने में

---

* द्र० हेगेल, पूर्व पृ० १०६-१०७

** द्र० वही, पृ० ११४-१५

समर्थ नहीं होता। और जैसे-जैसे विषय का स्वरूप समझ में आता है वैसे-वैसे इसका प्रत्यय व्यापकतर होकर बाह्य अर्थ का सम्बन्ध-सूत्र बनने लगता है, जो विषयी का प्रतिबिम्ब जैसा लगता है। ज्ञान, सुख, धर्म आदि पदार्थों का प्रत्यय तो आत्मपरामर्श के बिना अथवा आत्मसम्बद्धता के अनुभव के बिना सम्भव नहीं। इस प्रकार सम्यग्ज्ञात विषय आत्मज्ञान का द्वार होता है। इस प्रकार आत्मा, जो महाप्रत्यय तथा सभी प्रत्ययों का उपदर्शी है, में ही तत्त्वविचार विश्रान्ति प्राप्त करता है, यह ठीक है।* आगमाश्रित परम भी आत्मवाद में नाना प्रकार की अनात्मपरम दृष्टियाँ, जो प्रत्यक्ष के आश्रित तर्कनिबन्धन रूप प्रवर्तमान हैं, निवार्य नहीं होंगी, क्योंकि तर्क द्वारा उद्भाव्य उनके दोष भी चिराभ्यास-पाटव के कारण दुस्त्यज होंगे। प्रत्यक्षादि तत्तत् प्रमाणों के आग्रहवश भूत, भौतिक चित्त, चैतसिक, जीवात्मा और परमात्मा को परमार्थ रूप में मान लेने से नाना दृष्टियां प्रचार को प्राप्त होकर सौन्दर्य-बुद्धि की मीमांसा को प्रेरित करती हैं, और तब उनकी मीमांसाओं की दृष्टि-सापेक्षता और उनके आलोचन-सूत्र को प्रज्ञात्मक समझा जाता है।

देश-भेद और काल-भेद से प्रचलित नाना सौन्दर्यदर्शन, जो लक्ष्यभेद और दृष्टिभेद की अपेक्षा रखते हैं, इतिहास और न्याय, दोनों के समन्वय वाली तथा निषेध के द्वारा अन्त में परम विधि के प्रस्ताव वाली प्रज्ञा से विचारणीय हैं। अन्तग्राहिणी दृष्टि विरोधी द्वन्द्वों को विकल्पित करती है और, अद्वय परमार्थ का आच्छादन करती हुई उसे 'संवृति' कहा जाता है। किन्तु मध्यग्राहिणी प्रज्ञा अन्तर्गर्भित निषेध वाले स्वभाव को निषिद्ध करती हुई निर्विकल्प जैसे आत्मा, जिसने सभी विकल्पों को कवलीकृत कर रखा है, को प्रकट करती है। और इस प्रकार अनादिसिद्ध व्यावृत्तियों के निषेध से स्वरूप-विधि ही प्रज्ञा द्वारा समर्पित होती है और दृष्टि नष्ट हो जाती है। इसी प्रज्ञासूत्र से सौन्दर्यदर्शन के प्रस्थानों का व्यवस्थापन किया जाना चाहिए। जिससे दृष्टि और प्रवृत्तियों से संवलित (उपरक्त) लक्षण के गवाक्षों से लक्ष्यभूत सौन्दर्यबोध का विवेचन किया जाना चाहिए।

आशङ्का होती है, कि यह सौन्दर्य क्या है? जिसे लेकर इतने आटोप से मीमांसा की गई है? कहते हैं-

---

* द्र० वही, पृ. १९४-९५

ज्ञान मात्र से आस्वाद्य और स्वरूपतः विमर्श के योग्य जो आकारगत उत्कर्ष है वह 'सौन्दर्य' कहलाता है।। ८७।।

वहाँ आकार विषय के ग्राहक ज्ञान के प्रकार का नियामक, विषय में रहने वाला धर्म है। कहीं, जैसे अभिधर्म में, चाक्षुष रूप से अभिन्न, वर्ण द्वारा व्यङ्ग्य वर्णातिरिक्त धर्म को आकार या संस्थान कहते हैं। अथवा जाति और व्यक्ति से भिन्न पदार्थ को नैयायिक लोग 'आकृति' कहते हैं। आधुनिक तार्किक तो अवयवी मात्र में अवयव सम्बन्ध रूप रचना को ही 'आकार' कहते हैं। फिर वे उस आकार को द्रव्यों, वाक्यार्थों और ज्ञानों में लक्षित करते हैं। इस प्रकार अवधारित आकार नैयायिकों के आकृति-सामान्य के प्रकारों का अन्तर्भाव करता है (अपने में समेट लेता है)। तब भी (वह) 'स्वलक्षण' को व्याप्त नहीं करता। क्योंकि नील का क्षण-प्रतिभास जाति आदि द्वारा विकल्प्यमान न होता हुआ विलक्षण ही उपस्थित होता है। वहाँ प्रकार वैलक्षण्य का हेतु है, और उसका सरूप उसके विषय का आकार है। इस प्रकार ज्ञान के प्रकार का नियामक स्वसामान्य लक्षण रूप धर्म ही आकार है, ऐसा मानना चाहिए।

यहाँ शङ्का होती है कि व्यवहार्य वस्तु के अभिज्ञान और उसके स्वरूप के अवधारण में, ज्ञापक रूप से लक्ष्यमाण आकार विषय के तादात्म्य का अतिक्रमण नहीं करता, क्योंकि विषय और आकार परस्पर नियत होते हैं। नहीं कह सकते कि विशुद्ध विकल्पात्मक अथवा व्यावृत्त्यात्मक आकार विषय से भिन्न हैं, क्योंकि उस प्रकार के आकारों के सद्विषयों पर आरोप्य न होने की स्थिति में स्वयं भी असद् विषयत्व होगा और इस प्रकार विषय के कहे जाने पर उसके आकार का कथन व्यर्थ होगा।

ऐसा नहीं; क्योंकि वस्तुसद् विषय के अधीन न रहने वाले, सम्भावना मात्र सार वाले आकार यहाँ विवक्षित हैं। क्योंकि उस प्रकार के आकार, जो सत्य और असत्य रूप से अनिर्धारित प्रतिभास मात्र के आलम्बन वाले अथवा कल्पना मात्र के आलम्बन वाले हैं, सम्भाव्य ही अर्थों का आक्षेप करते हैं, न कि वस्तुसत् अर्थों का। 'सौन्दर्य' नामक उत्कर्ष भी इस प्रकार प्रतीयमान रूप से ही मुख्यतया देखा जाना चाहिए, वस्तुधर्म के रूप से नहीं। *काव्यमीमांसा* में राजशेखर का वचन यहाँ उद्धरणीय है-

"आकाश अथवा सरित्सलिलादि का यह स्वरूपनिबन्धन रूप नहीं है, प्रत्युत प्रतिभास-निबन्धन है, और, प्रतिभास तादात्म्य सम्बन्ध से वस्तु में नहीं रहता। यदि ऐसा होता तो सूर्य और चन्द्र के मण्डल में दृष्टि से परिच्छिद्यमान जिनके रूप का द्वादशाङ्गुलिमात्र प्रमाण प्रतीत होता है उनका पुराण आदि आगमों में निवेदित धरावलय के मात्रा वाले नहीं होते (पृथ्वी-मण्डल के समान परिमाण वाले नहीं होते)। यह यायावरीय का मत है।[११]"

यहाँ यह ध्यान देना चाहिए, शास्त्र में प्रतिभास के विवेचन से यथार्थ उपलब्धि ईप्सित होती है, किन्तु काव्यादि में प्रतिभास के अनुसार ही प्रायः अर्थ भाव के आनुरूप्य से विकल्पित होकर निरूपित होते हैं। प्रतिभास, कल्पना आदि के स्वरूप का विवेचन करेंगे, यहाँ वस्तु के अनियत आकार, जो आत्मभाव के अनुरूप होते हैं, में सौन्दर्य की प्रतीति का विश्राम होता है, इतना ही कहकर विराम लेते हैं।

काव्य, कला आदि से व्यङ्ग्य मूल्य रूप अर्थ, जिस कल्पना द्वारा रचित होते हैं, वह भाव के विषयी रूप आत्मा को ही उद्देश्य करके सौन्दर्य के अधिष्ठान की भाँति प्रतिभासमान उस (आत्मा) के आलम्बन के आकारों को आलिखित करती है। भाव सोपाधिक आत्मपरामर्श से ही सम्भव होता है और तब कल्पना भी मनःपट पर स्वानुरूप आकार का आलेखन करती है। मुख्यरूप से परामर्श को तीन प्रकार का समझना चाहिए। (व्यक्ति) आत्मा को (अपने को) इन्द्रियों और मन का अधिष्ठाता समझता हुआ प्रत्यक्ष-सिद्ध प्रेयस् का ही वरण करता है और काम-लोक के आकारों की ही कल्पना करता है। यह प्रथम परामर्श-स्थान है जहाँ आत्मबोध की अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, ये उपाधियाँ मुख्य मानी जाती हैं। जब बुद्धिसत्त्व को ही पुरुष (आत्मा) समझता हुआ, विषय के आकारों में तत्त्वाभासों को देखता हुआ बुद्धि की सङ्गति से ही सौन्दर्यादि मूल्यों की व्याख्या करता है तब द्वितीय परामर्श-स्थान को प्राप्त करता है। तीसरे स्थान में पुरुष अध्यात्मसार है, यह श्रद्धा किसी लोकातिक्रान्त, गूंगे के आस्वादन की भाँति अनिर्वचनीय किसी उदात्त अर्थ को उपनीत करती है।

आत्मबोध के प्रकारभूत मुख्य तीन दृष्टियों को प्रत्यक्षवाद, विज्ञानवाद और अध्यात्मवाद कहा जा सकता है। काव्य, कला आदि, दर्शन के

प्रस्थानों और सौन्दर्य-शास्त्र में इन (दृष्टियों के)अनुगामी भेद मिलते हैं। इनका ऐतिहासिक क्रम विपरीत ही दिखाई देता है! संस्कृतियों के प्रारम्भिक युगों में परम मूल्यबोध अध्यात्मप्रधान रूप से आविर्भूत होता है, ऐसा दिखाई देता है। अतीत सभ्यताओं में उत्तमार्थ की बुद्धि दिव्यत्व-बुद्धिमूलक ही स्फुरित हुई। देवशक्ति मनुष्य से ऊपर की होती है, जो अमर्त्य, शुभ, शोभमान, नानारूप धारण करने में समर्थ, सृष्टि की नियामिका और मनुष्यों द्वारा उपास्य है। तद्रूप (देवशक्तिरूप) होने के कारण ही जागतिक अर्थ (विषय) भी सत्त्व, प्राशस्त्य या सौन्दर्य प्राप्त करते हैं। देवव्रत (देवसंकल्प) द्वारा धारण किए हुए प्रतिमानभूत सनातन धर्म हैं, क्योंकि वे रूप और आचारों के विधारक हैं। देवशक्ति से अभिन्न जो सङ्कल्पात्मक ऋत है वह व्यक्त रूपों का, अव्यक्त मूल धर्म के आदर्श द्वारा नियमन करता है। नाम-रूप और कर्मात्मक जगत् का धर्म द्वारा नियत होना ही उसकी युक्तता, अर्थवत्ता अथवा मूल्यवत्ता है। अपने अन्तर्यामी का प्राणभूत ऋत अपने आकार द्वारा व्यञ्जित करता हुआ, दृश्य-विषय (होकर) सौन्दर्य धारण करता हुआ ज्योतिर्मय रूप सा शोभित होता है।[१२]

इस पर यदि शङ्का करें कि यह दृष्टि आधिदैविकी है, न कि आध्यात्मिकी, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि देवों को आत्माभिन्न रूप से माना गया है। जैसी कि श्रुति है-

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरामा,
कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्मेत्यदित्याचक्षते इति

भगवान् शङ्कराचार्य ने व्याख्या की है- वह प्राण ब्रह्म है, सर्वदेवात्मक होने के कारण महद् ब्रह्म है, क्योंकि अधिकार-भेद से एक देव के नाम, रूप, कर्म, गुण, शक्ति का भेद है।'' वही एक देव परमात्मा सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी और सर्वातिक्रामी पुरुष है। क्योंकि श्रुति है- 'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्''। वह अन्तःप्रविष्ट और उसके आभास से सभी रूप भासित होते हैं, क्योंकि श्रुति है- 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' और इस स्मृति के कारण-

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम्।।

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ।।

इस प्रकार यहाँ आध्यात्मिक और आधिदैविक, दोनों में भेद व्यर्थ ही है। दृष्टि का विषय होने वाले लोक का अतिक्रमण कर तथा उसे व्याप्त करके स्थित (रहने वाला) परमसत्य सृष्टि का मूल और मानवों का परम उपास्य है। उसके आभास से ही दृष्ट जगत् का सौन्दर्य है।

यह सौन्दर्य काव्यादि में किस प्रकार निरूपणीय है, जिससे उसके मूल की अवगति हो। यदि दृष्ट ही रूप का अनुकरण करते हैं तब आभास का आभास ही होगा। अन्यथा, रूप कैसे अरूप धर्मों की प्रभा को आभासित करेंगे?

पाद-टिप्पणियाँ

१. सामान्यतया द्र० बर्नर्ड बोसेंके, हिस्टरी ऑव ईस्थैटिक (लन्दन, १९०४), बोसेंके, हेगेल-इन्ट्रोडक्टरी लैक्चर्स ऑन ईस्थैटिक्स (पैंग्विन, १९९३), पृ०९८.

२. द्र०धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दुः (पटना, १९९५)

३. तु० हाबेरमास, फिलसौफिकल डिस्कोर्स ऑव मौडर्निटी (अनु०१९८७)

४. द्र० जावेट (अनु०), डायलौग्स ऑव प्लेटो, फ्रेड्स, इयॉन, सिम्पोजियम; टेलर, प्लेटो (१९६०), पृ० २७९-८०, २२९-३१.

५. द्र० कुमारस्वामी, सैलेक्टेड पेपर्स (सं०लिप्से), भूअर एन्ड कुमारस्वामी, (सं०)सैलेक्टेड लैटर्स ऑव कुमारस्वामी (१९८८), कुमारस्वामी, ए न्यू एप्रोच टु द वेदाज़ (१९३५)

६. ऐ०ब्रा०ग्र० २. पृ० ७६४ (आनन्दाश्रम)

७. तु० ह्यूम, ए ट्रीटिज़ ऑव ह्यूमन नेचर (पैंग्विन, १९६९), पृ० ३४९ प्र०

८. तु० कान्ट, क्रिटीक ऑव जजमेन्ट (अनु० बर्नर्ड, लन्दन, १९३१), पृ० १९७ प्रभृति

९. तु० ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली (पटना, १९८७), पृ० ३६७ प्र०

१०. तु० ए०ई० टेलर, पूर्व० पृ०२९२, प्र०, चार्ल्स टेलर, हेगेल (१९७५), पृ० २२५ प्र० हेगेल, एन्त्सिल्कोपेदी (हाम्बुर्ग, १९६९), पृ०१०२ प्र०; कोलाकाव्स्की, मेन करेन्ट्स, ऑव मार्क्सिज्म, प्रथम भाग में अध्याय १, १४, १५.

११. राजशेखर, काव्यमीमांसा (पटना, १९५४) पृ० ११०

१२. श्री अरविन्द और अनिर्वाण कपालीशास्त्री ने वैदिक दृष्टि के ऐसे विवरण को बहुत स्थलों पर सप्रमाण उपन्यस्त किया है।

रूपतत्त्व का विमर्श

सौन्दर्यविषयक बुद्धि की उत्पत्ति और विनाश उसकी अभिव्यक्ति की अपेक्षा से होते हैं, आकार व्यञ्जक हेतु आभास के कारण होता है, न कि वस्तुतः।। १।।

चन्द्र का उदय चित्त को आह्लादित करता है। उसका चित्र भी वही करता है। तब कैसे चन्द्रोदय का सौन्दर्य चन्द्रोदय के चित्र के सौन्दर्य से भिन्न होता है?, इस सम्बन्ध में विचार करने पर स्थिरत्वकृत और अस्थिरत्वकृत उनका भेद सुविदित ही प्रथमतः आलोच्य है। भौतिक रूपों की रचनाओं के कारणभूत परमाणु पर्यन्त अवयवों के निरन्तर सञ्चलित होने पर, तथा रूप के प्रदर्शक और काल के विधायक भुवन-भास्कर (सूर्य) के परिस्पन्द (गतिमान) होने पर नैसर्गिक दृश्य उसी प्रकार नहीं स्थित होता, किन्तु चित्रित (चित्र रूप में निर्मित) शाश्वत (=सुस्थिर) जैसा हो जाता है; क्योंकि नित्य रम्य और अत्यन्त हर्ष उत्पन्न करने वाला होता है, यह कवि* का वचन प्रसिद्ध है। इस पर यह शङ्का उठती है कि चित्र भी नष्ट हो जाते हैं, दृश्य फिर से अपने को नया कर लेते हैं, सौन्दर्य (के भेद) का प्रयोजक स्थिरत्व-अस्थिरत्व नहीं है। जैसे महाकवि (बाङ्ला उपन्यासकार) शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपनी कथा 'शेष प्रश्न' में दिखाया है और पण्डितवर्य रामावतार शर्मा सत्-असत् की स्थिति में नित्यत्व-अनित्यत्व को अप्रयोजक कहते हैं। ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि चित्र का नाश पट, वर्ण-द्रव (रंग) आदि लेखन-सामग्री का ही नाश है, चित्र-बुद्धि का नाश नहीं है। और इसी प्रकार, पाण्डुलिपि का नाश भी किसी काव्य का नाश नहीं होता। काव्य के विस्मृत हो जाने पर भी वह (काव्य) नष्ट हो गया, यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि उसकी (पुनः)

---

*   **कीट्स- A king beauty is a joy for ever.**

स्मृति का विषय होना सम्भव है। और इसी प्रकार, प्रातिभबुद्धि का साक्षाद् गोचर अर्थ उसके सङ्केतभूत बाह्य आकार-समूह से विवेचनीय है। बाह्य सङ्केत तो कृत्रिम होने के कारण उसी प्रकार अनित्य है जिस प्रकार प्राकृत हेतु द्वारा कृत (उत्पन्न) दृश्य। प्रातिभ अर्थ तो नित्य ही रहता हुआ हेतु के सन्निधान या असन्निधान से व्यक्त होगा या अव्यक्त। जो बाह्य दृश्य का नवीकरण है वह नवीन दृश्य का ही करना है, न कि उसी पूर्व दृष्ट का पुनः करना है। (दुबारा होता हुआ सूर्योदय नया सूर्योदय है न कि लुप्त सूर्योदय का नवीकरण) इस पर आशङ्का होती है कि ऐसा होने पर, नैसर्गिक दृश्यों में भी किसी व्यक्ति (अभिव्यक्ति) के योग्य अर्थ (विषय) की कल्पना कीजिए, और फिर दृश्यों के पुनः आविर्भाव में सनातन कवि के रम्यत्व स्वरूप के अनुसार नवत्व के विधान की कल्पना कीजिये, जैसा कि 'नवो नवो भवति जायमानः' 'तदेव रूपं रमणीयतायाः क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति'। 'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः'। उत्तर यह है कि इस स्थिति में हम 'हाँ' ही कहते हैं, क्योंकि उस प्रकार कल्पना करने पर, सौन्दर्य के व्यङ्ग्यत्व पक्ष के स्वीकार करने पर, उसका (सौन्दर्य का) आकार से अतिरिक्त, प्राकृत कार्य होना औपाधिक ही सिद्ध होता है।

सौन्दर्य-बुद्धि की प्रामाणिकता स्वानुभूति पर आधारित है, सङ्केत-रचना पर अवलम्बित होकर कोई (अवर्णनीय) अतिशय (अर्थोत्कर्ष) स्फुरित होता है।। २।।

कोई ऐसा भी अर्थ है जो प्रतिभा द्वारा साक्षात्कार के योग्य है, जिसकी चमत्कारिता ही सौन्दर्य है, यह कहा जाता है। यह धर्म प्राकृत हेतुओं से (उत्पन्न) नहीं किया जाता, अपितु सङ्केतों से व्यक्त होता है। इससे इसकी, सहृदयों की बुद्धि की समाश्रयता (आधृत होना) और सातिशय आकारालम्बनता सूचित होती है।

इस पर शङ्का होती है कि कवियों अथवा शिल्पियों का व्यापार, जिसे निर्माण, रचना-कर्म आदि शब्दों से कहा जाता है प्रधान रूप से कैसे किसी नित्य अर्थ के ज्ञान का अभिव्यञ्जनात्मक होगा? क्योंकि नूतन कल्पना में कुशल निरङ्कुश कवि और प्रसिद्ध शिल्पी भी अपूर्व ही वस्तु का निर्माण करते हैं। तो फिर कैसे यह उस व्यापार के ज्ञान-प्रधान होने की स्थिति में सङ्गत होगा? आधुनिक लोग भी सौन्दर्य को ज्ञान-विषय से भिन्न कल्पना-

सार अवस्तु कहते हैं। यदि सौन्दर्य ज्ञान का विषय होता तो वैमत्य असमाहित ही नहीं ठहरता। यह वस्तु होता तो प्रमाणों द्वारा अन्विष्ट यथाभूत (=यथावस्थित?) निरूपित होता।[१]

इसका उत्तर देते हैं; कवियों और शिल्पियों का क्षेत्र-विशेष में स्वातन्त्र्य माना ही जाता है। जैसा कि अपने संस्कार के अनुकूल, व्यञ्जक सङ्केतों से स्वान्तःस्थ अर्थ के बाहर प्रकाशन में वे स्वतन्त्र ही हैं, तथापि निरङ्कुश नहीं हैं, क्योंकि सङ्केत-रचना में अन्तःस्थ अर्थ का ही आनुकूल्य विवक्षित होता है।[२] और, स्वान्तःस्थ अर्थ मानस प्रत्यक्ष द्वारा गम्य (=ज्ञेय) होते हैं। मानस प्रत्यक्ष के भी दो प्रकार हैं–आत्मगत इच्छादि भी अर्थ हैं, जो मानस प्रत्यक्ष के गोचर होते हैं। और फिर आगमादिलब्ध भी अर्थ भावनाजन्य साक्षात्कार के विषय होते हैं। इस प्रकार स्वानुभूत अपरोक्ष अर्थ और भावना-साक्षात्कृत अर्थ, दोनों ही स्वान्तःस्थ अर्थ की कक्षा में प्रवेश के योग्य हैं। और, दोनों ही स्थितियों में वे प्रमाण-समर्थित ही हैं। उनके प्रकाशन में भी, जहाँ स्वानुभूत अर्थ हैं वहाँ व्यञ्जक सङ्केतों की रचना सहज संस्कारों को ही मुख्य रूप से आश्रित करके प्रवर्तित होती है, किन्तु जहाँ लोकोत्तर अर्थ आगमादि द्वारा निर्दिष्ट विवक्षित हैं वहाँ व्यञ्जक रूप भी शास्त्र द्वारा निर्देश्य होता है, जैसा कि देवताओं के नाम, रूप, चरित आदि के निरूपण के अवसर में।

शास्त्र द्वारा निर्देश के बिना परोक्ष अर्थ कैसे व्यङ्ग्य (हो सकता है?)। रूप के निर्माण के विज्ञान को 'कला' कहा जाता है।। ३।।

सब प्रकार से रूप-रहित देवता, धर्म अथवा ज्ञान प्रत्यक्ष रूप द्वारा कैसे प्रकाशनार्ह हैं, यह तो शास्त्र से ही जानना चाहिए। अतः देव-प्रतिमा आदि के विधान में समर्थ कला शिल्पी के स्वाधीन ही नहीं होती, वह तो विज्ञान रूप (होने से तथा) शास्त्रीय सम्प्रदाय द्वारा लभ्य (=ज्ञेय) होने से 'अमुक ही देवता का यह रूप है (और) ये प्रमाण (मान) हैं' इत्यादि रूप होती है। जैसा कि "विज्ञान के दो अर्थ हैं शिल्प और शास्त्र" यह अमर सिंह (अमरकोशकार) भी कहते हैं। यह तो स्मरण रखना चाहिए कि शास्त्र के निर्देश के ज्ञान मात्र से शिल्प का विषय अन्तःस्थ अर्थ की पदवी (स्थान) नहीं प्राप्त कर लेता है। शास्त्रोक्त अर्थ का पहले भावना द्वारा साक्षात्कार कर लेना चाहिए, तभी वह बाहर प्रतिमा, आयतन आदि रूप से निष्पाद्य होता है।

युगनद्ध रूप से स्थित दो तत्त्वों का भेद कला, काव्य आदि में व्यङ्ग्य और व्यञ्जक के भेद से स्फुट रूप से लक्षित होता है।। ४।।

निर्गलित (निष्कर्ष रूप) अर्थ तो यह है कि काव्य, शिल्प आदि में दो पक्ष हैं- एक ओर, आभ्यन्तर कोई अर्थ होता है, जो साक्षात्कार का विषय होता है और दूसरी ओर, बाह्य, उसका व्यञ्जक रूप अथवा सङ्केत-रचना। और, यह दोनों प्रकार का विभाग सर्वत्र ही कलाओं और नैसर्गिक दृश्यों में लक्षित किया जा सकता है। नैसर्गिक दृश्यों में भी अव्यक्त ही कोई अर्थ प्रेक्षक के भाव के अनुरूप चमत्कारी रूप से अवस्थित लक्षित होता है। जैसा कि-

शुचिशीतलचन्द्रिकाप्लुताः, चिरनिःशब्दमनोहरा दिशः।
प्रशमस्य मनोभवस्य वा हृदि कस्याप्यथ हेतुतां ययुः।।

-कुन्तक

(शुचि तथा शीतल चाँदनी से धुलीं, चिर निःशब्द होने के कारण मनोहर दिशाएं प्रशम अथवा मनोजन्मा कामदेव का किसी के हृदय में कारण बन गयीं।)

अथवा,

न जाने नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन।

इस पर शङ्का होती है कि ऐसे काव्य उत्प्रेक्षा-विशेष के द्योतक ही हैं, न कि तथ्य के प्रमाणभूत हैं। जैसे, गुलाब के फूल को देखकर सौन्दर्य का अनुभव करते हुए (लोग) वहाँ किसी अव्यक्त अर्थ का अनुभव नहीं करते हैं, किन्तु रूपसौष्ठव मात्र को देखते हैं, उसी की प्रशंसा करते हैं। और जैसा कि स्वभावोक्तियों में, पुरुष-विशेष के रूप के चित्रण में, प्रकृति के दृश्यों के वर्णन में अथवा निश्चल दृश्य के चित्रण में उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों से रहित रूप से ही, यथास्थित ही विषय प्रतिरूपित होता है। संगीत में भी श्रुति मात्र से स्वर का माधुर्य भाव-निरपेक्ष रूप से ही, गृहीत होता है। वहाँ कोई अर्थ विवक्षित अथवा ग्राह्य नहीं होता है! ऐसी शङ्का पर कहते हैं, नहीं, सहृदयों में, जो अपनी अनुभूति के प्रकाशन में मन्द (असमर्थ) हैं (ये) उनके उदाहरण हैं उनके उदाहरण से भ्रमित नहीं होना चाहिए। जो

पुष्प को देखकर 'अहो रूपम्' इतना मात्र ही कहने में समर्थ हैं वे किसी अर्थ को नहीं ग्रहण करते यह नहीं कहना चाहिए, बल्कि, यही कहना ठीक है कि वे अपने द्वारा गृहीत अव्यक्त अर्थ को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं हैं।

सौन्दर्य द्वारा जनित आह्लाद अन्य सुखों से विलक्षण होता है; वह समालोच्य-विशेष होने पर भी, अन्ततः गूंगे के आस्वाद जैसा होता है।। ५।।

सौन्दर्य को देखकर सभी अव्यक्त किसी अर्थ को ग्रहण करते हैं, किन्तु सभी अपने द्वारा गृहीत अर्थ को प्रकट (प्रकाशित) नहीं कर पाते हैं। उसी प्रकार, सभी कहीं कलाकार की पदवी पर बिना बोध के (अनजाने) पहुँच जाते हैं, और वहाँ स्थित होकर सौन्दर्य को देखते हैं, किन्तु उस पदवी के योग्य, अभ्यस्त अधिकार के अभाव के कारण कार्य का सम्पादन करने में समर्थ नहीं होते। जैसे कोई 'बच्चासक्का' नाम का (चमड़े की दृति से सेचन करने वाला कुमार) सम्राट् हो गया। उसने उस पद की योग्यता अधिकृत नहीं की। और तब उसने दूसरा काम छोड़कर स्वनामाङ्कित चमड़े की मुद्राएं प्रचलित कर दीं। इसी प्रकार अकवि भी बाह्य सौन्दर्य को देखकर प्रशंसा करता है, न तो वह उसका भाव ग्रहण करता है, न ही ग्रहण कर के भी उसे व्यक्त करने में क्षम है। और इस प्रकार, सौन्दर्य भौतिक वस्तु में भी नहीं रहता, वह तो औपाधिक ही होता है तथा चेतनापेक्ष भी। किन्हीं लोगों ने ऐसे धर्म को गुणान्तर की अपेक्षा 'प्रतीयमान धर्म' कहा है। स्वभावोक्ति यथास्थित (विषय के) निदर्शनपरक दृश्य विषय की प्रतीति विशेष चित्रण को ही द्योतित करती है, न कि स्वभावोक्ति इतिवृत्तवचन ही है, न ही यथाकथञ्चिद् गृहीत आलोकचित्र (फोटो) के रूप में चित्र है। (स्वाभावोक्ति जैसी वस्तु दी हुई है उसका वैसे ही चित्रण करती है अथवा दृश्यमान विषय की किसी विशेष प्रतीति का चित्रण करती है)

इस पर शङ्का होती है कि रूपों में स्वभावतः ही काम्यत्व देखा जाता है, सहज काम-मूल वह चारुत्व क्या इष्ट नहीं है?।। ६।।

शङ्का करते हैं कि नैसर्गिक रूप का सौष्ठव प्रेक्षक की कल्पना से रचित है, ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि स्पष्ट ही वह बहिःस्थित देखा

जाता है। जैसा कि मयूर के पक्ष की रचना में वर्णों का वैचित्र्य देखा जाता है, उसे मयूरी भी देखती है, उस मयूरी की न तो मानव-बुद्धि जैसी बुद्धि है अथवा कल्पना ही। इस दृष्टान्त में मयूर के रूप के प्रति आकर्षण कल्पनारहित मयूरी का भी सिद्ध है। उससे मयूर के रूप का वस्तुनिष्ठत्व भी सिद्ध है। और मयूर के उस रूप को काल्पनिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसे ग्रहण करने वाली मयूरी में कल्पना नहीं है। इस प्रकार मनुष्यों में भी स्त्री-पुरुष आदि के रूप परस्पर सुन्दर होने के कारण निरुपाधिक होने से स्वाभाविक समझे जाने चाहिए', ऐसा मानना चाहिए । इस स्थिति में,

प्रवर्तन से (प्रवृत्तिजनक होने के कारण) सौन्दर्य नहीं है, क्योंकि वह (सौन्दर्य) चमत्कारमय होता है, और वह योग्य संस्कारपूर्वक अतिशय के ज्ञान से होता है।। ७।।

ऐसा नहीं, क्योंकि (यहाँ) हेतु अनैकान्तिक है। मयूर का रूप, जो मयूरी को आकृष्ट करता है, वहाँ मयूरी उस सौन्दर्य को नहीं देखती। मयूर का रूप उसके (मयूरी के) लिए सहज सङ्केत का काम करता है। उसी प्रकार स्त्री-पुरुषों में भी जो बहुत लोग रूप को देखकर आकृष्ट हो जाते हैं, वहाँ रूप सहज ही काम का निमित्त बन जाता है, इस कारण सौन्दर्य-बुद्धि की कल्पना नहीं करनी चाहिए । इस प्रकार की प्रवृत्ति के निमित्त भूत को इस प्रकार होने के कारण सुन्दर नहीं कहना चाहिए; क्योंकि प्रवर्तक होना सौन्दर्य का लक्षण नहीं है। किन्तु उस (सौन्दर्य) का लक्षण है : अपने विषय के ज्ञान मात्र से चमत्कार का जनक होना। इस प्रकार काव्य में, कलाओं में और बाह्य नैसर्गिक दृश्यों में, सर्वत्र ही यह चमत्कारवान् होना रूप लक्षण काव्य और शिल्प को व्याप्त करता है। जैसा कि काव्य को उद्देश्य करके पण्डितराज (जगन्नाथ) ने यह कहा, वह सुविदित ही है।[३] उन्होंने (पण्डितराज ने) चमत्कारत्व का व्याख्यान 'आह्लादगत-अनुभवसाक्षिकजातिविशेष' इस प्रकार किया है। और वही लोकोत्तरत्व है। इस प्रकार रमणीयता का प्रतिपादन 'लोकोत्तर आह्लाद के जनक ज्ञान का गोचर होना' किया है। और, वह (रमणीयता) जैसे काव्यादि के शब्द द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ में प्राप्त होती है उसी प्रकार संगीत के स्वरों में, चित्र, प्रतिमा आदि में, नाट्य में और नैसर्गिक दृश्यों में (प्राप्त होती है)। उसी प्रकार,

संगीत के स्वरादि का ज्ञान चमत्कारजनक अपने विषय की रमणीयता का प्रत्यक्ष करता है। यहाँ विषय का बाह्य या आभ्यन्तर होना, नैसर्गिक होना अथवा कृतक (कृत्रिम) होना प्रयोजक नहीं है। प्रत्यक्ष द्वारा ग्राह्य उस रूप में रहने वाला अतिशय-विशेष ही प्रयोजक है। और, वह अतिशय कहीं अनादि संस्कार के कारण ज्ञात होकर ही आह्लाद-विशेष को उत्पन्न करता है, जैसे ध्वनि, स्वर, वर्ण आदि में रहने वाला विशेष। इतने मात्र से भी प्रत्यक्ष भोग की भांति सुखजनक व्यापार द्वारा विषय की रमणीयता का ज्ञान आपामर लोगों में प्रसिद्ध ही है। और जैसा कि गायिका की रक्तकण्ठता (सुरीला कण्ठ), तन्त्रीनाद का अनुरणन, पुष्प की मसृण कान्ति, इन्द्रधनुष के रंगों की छटा और काव्य के शब्दों में अनुप्रास सहज ही चित्त को रञ्जित (बिभोर) कर देते हैं। और, शिक्षित तथा अशिक्षित दोनों के लिए साधारण (सामान्य) यह 'रक्ति' (=राग) प्रायः विवेक से निरपेक्ष तथा रम्यत्व-प्रतीति की 'अवमा' भूमि है। यहाँ अविवेचित भी विषय का रूप गृहीत (ज्ञात) मात्र होकर, कारक हेतु की भांति सुख उत्पन्न करता है, मृदु स्पर्श की भांति, अथवा मधुर रस की भांति।

तब भी स्पर्शन, रसन के बिना दृश्य तथा श्रव्य विषय-विशेषों की प्रतीति स्वानुस्यूत जैसे, चमत्कार-सहकृत ज्ञानान्तर उत्पन्न करती है।

दृश्य और श्रव्य रूपों में ज्ञान और रक्ति, दोनों की आकृति समान है, और दोनों में भी हेतु और आलम्बन भिन्न नहीं होते।। ८।।

तन्त्री (वीणा आदि) के झङ्कार का ज्ञान जो सुख उत्पन्न करता है वह निर्विषय, अनुकूल संवेदन मात्र नहीं है, अपितु अव्यक्तविषयक सुख-विशेष सम्प्रयुक्त ज्ञान है। लोग अपने पुत्र के कण्ठ से निर्गत ध्वनि को सुनकर आनन्दित होते हैं, किसी की भी रागमय कण्ठध्वनि को सुनकर भी आनन्दित होते हैं, रागमय कण्ठ का गीत सुनकर भी आनन्दित होते हैं, किन्तु यहां सर्वत्र सदृश (समान) रञ्जन-व्यापार नहीं है। अपने पुत्र के कण्ठ से निर्गत ध्वनि के श्रवण के समय ध्वनि के सौष्ठव का विचार नहीं किया जाता, नैसर्गिक/स्वाभाविक वासना के कारण ही उस ध्वनि का ग्रहण सुख का संवेदन उत्पन्न करता है। रागमय (सुमधुर) कण्ठ की ध्वनि के प्रत्यक्ष में, ध्वनि में रहने वाला कोई आकार-नियत विशेष लक्षित होता है

और उस ज्ञान से अवच्छिन्न विलक्षण सुख की प्रतीति होती है। और उसका (सुख का) वैलक्षण्य, अनुकूल वेदनीयत्व से अतिरिक्त रूप से, श्लाघ्य आकार के विषय वाले अपरोक्ष ज्ञान का रूप होने के कारण, होता है। फिर राग से भरे कण्ठ से निर्गत गीत के श्रवण के समय, कण्ठ-विशेष से निकला स्वरगत विशेष और स्वरयोजनाविशेष दोनों लक्षित होते हैं। इस प्रकार बहुत प्रकार की रञ्जकता समझनी चाहिए, रक्ति की हेतुता का अवच्छेदक यहाँ रक्ति की विषयता का अवच्छेदक ही है। जैसा कि ज्ञान में प्रतीत होता है, घट जैसे घटज्ञान का हेतु है उसका (घट का) आलम्बन प्रत्यय भी हेतु है। इसी प्रकार यहाँ भी, स्वसम्बद्धता, कण्ठरक्तता, स्वरविशिष्टता अथवा स्वयोजनविशिष्टता राग का विषय निर्धारण करती है। निर्धारण का हेतु विषयगत आकार के वैशिष्ट्य का ज्ञान ही है। पहले तो इसका अन्य अवच्छेदकों से भेद समझना चाहिए। यदि अपना पुत्र भी विस्वर गान करे तो वह गान रक्ति (=रञ्जकता) उत्पन्न नहीं करेगा। इस कारण, रक्ति का हेतु विषय के आकार में ही है यह सिद्ध होता है। अतः, काव्य, कला आदि के आस्वाद का प्रथम आरम्भ रूप का पर्यालोचन ही है यह ज्ञात होता है।

सौन्दर्य-बुद्धि के मूलभूत रूपतत्त्व की ही पहले जिज्ञासा करते हैं। तत्त्व-जिज्ञासा शब्दार्थ के विचार से स्वतन्त्र न होने के कारण 'तत्त्व'-वाचक शब्द के प्रयोग की ही पहले परीक्षा करते हैं।

रूप आदि शब्दों के अर्थ परोक्ष तथा तर्क से अनुत्पन्न हैं, अतः वे ऐतिह्य तत्त्व को देखने वाली प्रज्ञा के गोचर होते हैं।। ९।।

सौन्दर्य, रूप आदि शब्दों का प्रयोग लोक और शास्त्र दोनों में विदित होने के कारण, उनके अर्थ का विनिश्चय सुकर नहीं है। घट आदि बाह्य पदार्थ लोक/लौकिक प्रत्यक्ष द्वारा और समवाय आदि शास्त्रीय कल्पनारूढ पदार्थ तत्तत्सम्प्रदायों में प्रसिद्ध तर्क द्वारा जाने जा सकते हैं; किन्तु सौन्दर्य, रूप आदि पदार्थ, लोक और सम्प्रदाय (शास्त्र) दोनों से विलक्षण हैं, न तो प्रत्यक्ष हैं, न ही तर्क द्वारा नियत (अवधारित) हैं, सभी विद्याओं, कलाओं, आचारों के संग्राहक चैतन्य की परम्परा के सूत्र से जैसे वे पकड़ में आते हैं, अतः ऐतिह्य की आलोचना के बिना उनका सम्यग् बोध सम्भव नहीं। नाना संस्कृतियों से सिद्ध अनुभव के निरूपक प्रत्यय वाले उन (रूप आदि

शब्दों का) विमर्श 'द्वन्द्वात्मक प्रज्ञा द्वारा ही' किया जा सकता है। वही ऐतिह्य की अन्तदर्शिनी, अनेकान्तवादिनी, मध्यग्राहिणी प्रज्ञा यहाँ, रूप-तत्त्व के आलोचन में समाश्रयण के योग्य है, ऐसा ठीक लगता है।

इस आशङ्का पर, कि न्याय (तर्क) ही एकमात्र शरण है जिसका, ऐसे तत्त्व-विचार में अनियत वृत्तान्त वाले इतिहास की उपयोगिता क्या है? कहते हैं, ऐसा नहीं; तत्त्व का विचार तो सदा प्रसिद्ध दृष्टान्त और पूर्व-पक्ष को आगमित करके प्रवृत्त होता है। वहाँ, सम्प्रदाय (शास्त्रीय परम्परा) से ही प्रायः दृष्टान्त और पूर्वपक्ष प्राप्त होते हैं। और, नाना सम्प्रदाय मिलकर शिष्टपारम्पर्य रूप संस्कृति का संग्रथन करते हैं। और, तत्त्व-विचार में संस्कृति का ऐतिहासिक सूत्र अगत्या ही उपादेय है, जिससे कि वह (तत्त्वविचार) अपूर्ण अथवा असङ्गत न हो। और इसी प्रकार, पूर्वाचार्यों के मतों का स्मरण करते हैं, पूर्व-पूर्व सोपान की भूमिकाओं पर आरोहण करके उनका उत्तरोत्तर ज्ञान बढ़ता है।[४] इतना तो प्रायः शास्त्र-चर्चा में लगता ही है कि जो पुनः यहाँ नूतन विवक्षित है वह नयापेक्षवर्ती (न्यायैकदेशदृष्टि) मध्यान्तविभङ्गसदृश 'द्वन्द्वात्मक' न्याय का आश्रयणीय होना है।[५] और उस न्याय में विचार्य तत्त्वों का स्वरूपकृत परस्पर सम्बन्ध और तत्-तत् आचार्यों के सम्प्रदायों द्वारा प्रतिपादित लक्षण सम्बन्ध, दोनों ही पारम्पर्यपरिवेश से सङ्गत, तत्तत् युग के लोगों के समष्टिचित्त द्वारा विषयीकृत, समान सूत्र द्वारा पकड़े गये की भांति समालोच्य होते हैं। तर्क-बुद्धि से जो अर्थ नाना प्रसङ्गों में नाना व्यावृत्तियों द्वारा तत्त्वरूप से कल्पित होते हैं, उनके मूलभूत विकल्प और प्रतिबिम्ब वाणी में संदृब्ध होकर, लोक में अन्योन्य चित्तों में निलीन होते हैं, वासनापेक्ष और शिल्प-सम्प्रदाय के द्वारा अवतारित अद्भुत बिम्ब के निमित्त स्मृति-सापेक्ष होते हैं। और इस प्रकार, सौन्दर्य, रूप आदि तत्त्वों की मीमांसा में नाना युगों से चित्तारूढ अर्थ और उन (अर्थों) के प्रतिष्ठाभूत भाव आलोचनीय हैं, जिससे क्रमविवर्ती प्रत्यय सम्यक् ज्ञात हो जाए,[६] अन्यथा, तत्त्वविचार, लक्ष्य से गिर कर आहार्य विषय में आयासित तर्कमात्र होने से अप्रतिष्ठ सिद्ध होगा। विचार-सरणि का भेद होने पर भी दार्शनिक पदार्थ लौकिक (पदार्थों) से भिन्न नहीं होते हैं, क्योंकि वाच्यवस्तुत्व के अभाव में भी उनका स्वभाव विकल्पित होता है। स्वतन्त्र बाह्यार्थ के वाचक रूप में प्रतीत गो, घटादि

शब्द भी, प्रत्ययों का, और प्रत्ययों द्वारा सम्भावित प्रत्येयों का ही अभिधान करते हैं। अन्यथा कैसे उन अर्थों को उद्देश्य करके उनके असत्त्व, मिथ्यात्व या असम्भाव्यत्व का विधान किया जा सकता है! सामान्य भाषा में सङ्केतित, बहुत लोगों के चित्त के गोचर अनुभव-विकल्प ही तत्त्वविचार द्वारा परिष्कृत होते हैं। और जनचित्त, चाहे वह प्राकृतों का हो, शिष्टों का हो या विशिष्टों का, प्रकृत तो शिष्टजन-चित्त ही है। दार्शनिकों द्वारा विचार्य विषय, तत्त्वनिरपेक्ष होने के कारण, जिस किसी प्रकार बुद्ध्यारूढ उच्चावच अर्थ ही हैं ऐसा यहाँ अभिप्रेत नहीं, क्योंकि उनका (दार्शनिकों द्वारा विचार्य विषयों का) प्रत्यक्ष-प्रधान वैज्ञानिक अनुसन्धान से विषयभेद ही विवक्षित है। परम्परागत संस्कार की अपेक्षा वाले साधारण अनुभव का परामर्श करता हुआ वह विचार वहाँ लोक-रूढ़ मतों की समीक्षा करके लक्षण-निर्धारण द्वारा लक्ष्यों का अवगाहन करता है। विचार-प्रधान होने के कारण उसके विषय प्रतीति से जुड़े हैं, न कि आगन्तुक बाह्यार्थ हैं। और पुरुषार्थ से सम्बद्ध वे (विषय) लोक और शास्त्र, दोनों सम्प्रदायों से (परम्पराओं से) ग्रहण करके विवेचनीय हैं। अतः, रूपतत्त्व का अन्वेषण विद्या, कला, आचार आदि शिष्ट-सम्प्रदाय के अनुरोध से प्रतीत अर्थ के साथ होना चाहिए।

अभिधर्माचार्यों ने 'रूप' शब्द का प्रयोग भूतार्थपरक तथा भौतिकार्थपरक रूप से किया है।[७] दूसरा भी इसका अर्थ 'चक्षुर्ग्राह्य गुण' है जो प्रायिक है। वह गुण वर्ण और संस्थान दोनों प्रकार का है। प्रतीयमान आकृति, अथवा स्वरूप अथवा तत्त्व भी 'रूप' शब्द से अभिहित होते हैं। कहीं, पदार्थ का अवयव-सन्निवेश भी रूप कहा जाता है। जिस 'अवच्छेद' से कोई विषय ज्ञात होता है वह भी रूप ही है। किसी भी, स्वाभाविक अथवा औपाधिक स्वनिष्ठ धर्मविशेष से जिसका ज्ञान विषयान्तर का ज्ञापक होता है वह भी इतर का सङ्केतभूत 'रूप' शब्द से कहा जाता है। जैसा कि प्रतिकृति, अभिनय और प्रतिमा से रूप प्रस्तुत होता है। कहीं पर 'रूप' प्रशस्य गुण के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इस प्रकार, आकृति का अतिशय (अतिशय आकृति) भी 'सौन्दर्य' का अपरपर्याय, 'रूप' कहलाता है। इस प्रकार 'रूप' अभिधान करता है वस्तुनिष्ठ का भी, प्रातिभासिक का भी, तटस्थ का भी, हानोपादानबुद्धि का विषय होने वाले धर्म का भी। सर्वथा

विवेचनीय है- वस्तुविषया अथवा प्रतिभासविषया रूप-सौष्ठव की प्रतिपत्ति (ज्ञान) किसे लेकर होती है? कौन वह रचना-विशेष अथवा सम्बन्ध-विशेष है जिससे प्रतीयमान रूप 'सत्' कहा जाकर श्लाघ्यता के योग्य होता है?

युग के पर्यय (क्रम) से 'रूप' शब्द का अर्थ चार प्रकार का लक्षित होता है- प्रतीक, लक्षण, मूर्ति और रचनाकार।। १०।।

जिस विक्षेप और आवरणात्मक हेतु से अव्यक्त व्यक्त होता है, वेद में वह 'रूप' माना जाता है, जो देवशक्तिमूलक है।।। ११।।

स्वातन्त्र्य से सृष्ट होते हुए उस निगूढ़ को अवभासित करता हुआ, (वह रूप) अभिप्राय के प्रकाश जैसा सहज सङ्केत है।। १२।।

वेदों में विविध भी 'रूप' शब्द का प्रयोग किसी गम्भीर अर्थ को द्योतित करता है। कहीं दृश्य गुण के अर्थ में यह प्रयुक्त हुआ है-

'घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपम्'
'रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा'

नाम के साथ अथवा नाम और कर्म, दोनों के साथ प्रयुक्त 'रूप' शब्द व्यापकतर अर्थ, सकल इन्द्रियों के आभासगोचर, भूत-भौतिक विषय-समूह को अभिहित करता है। और वैसे ही, नाम और रूप के बौद्ध (बुद्धि-विषयक) प्रयोगों में भी लक्षित किया जा सकता है।

''त्वष्टा रूपाणाम् ईशे''

यहाँ 'रूप' शब्द स्वाभाविक अथवा शिल्पकृत संरचना को कहता है। इस प्रकार 'रूप' शब्द के विविध भी प्रयोगों में मुख्य प्रयोग तो अभिव्यञ्जकत्व (के अर्थ) में ही है। जैसे, जो निर्मित (सृष्ट) होता है वह 'रूप' है। रूप से ही अव्यक्त व्यक्त होता है, अनवधारित अवधारित होता है। अलक्षण असत्प्राय निराकार अव्यक्त, सामान्य और विशेष लक्षणों से अन्वित होता हुआ व्यक्त होता है। अवयव-सन्निवेश, जिसका अपर पर्याय रचना है, अव्यक्त को अवच्छिन्न करके अवयवि-विशेष रूप से उसे (अव्यक्त को) आविष्कृत करता है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि जडोपादानवाद अथवा प्रधानवाद से यह भिन्न नहीं होता, क्योंकि यह वेद के अभिमत का व्यवहार

के अनुगुण एक देशमात्र है। प्रायः, वेदों में सदर्थ जडावच्छिन्न विषय से भिन्न चेतनविषयी ही होता है, अथवा विषय-विषयि भाव से अतीत चैतन्य होता है। चैतन्य से अभिन्न होकर 'सत्' स्वयं अपनी सृष्टि करता है। रूप उसके स्वरूप को आवृत कर लेते हैं (और) नाना परिच्छिन्न अर्थों को आभासित करते हैं। यही सृष्टि की मूलभूत आवरण- विशेष रूप, प्रसिद्ध मायाशक्ति है।

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'
'रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानः तन्वं परिस्वाम्।'
'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।'
'तद्धेदं तर्हि अव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत। एतद्धि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते।'
'त्रयं वा इदं नामरूपं कर्म'
'अनेनैव जीवेन आत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्'

इसी श्रौत (वैदिक) दर्शन का अनुसरण करके उत्तर काल में भी वेदान्तों (उपनिषदों) में नाम और रूप को ईश्वर की उपाधि मानकर प्रतिपादित किया गया है; क्योंकि उपाधि तटस्थ लक्षण होता है। वह लक्ष्य को ज्ञापित करता हुआ भी उसका स्वरूप नहीं कहता (बतलाता)। व्याकरण द्वारा नामरूपात्मक जगत् का निर्माण करके परमात्मा उसमें अनुप्रविष्ट है। और सृष्ट सभी पदार्थ उस निगूढ स्वरूप वाले (परमात्मा) के संकेत की भांति मायिक रूप ही हैं। और, इस प्रकार ईश्वर को कवि तथा उसकी सृष्टि को काव्य कहते हैं।

'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।'

'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।'

कहीं, सद्व्याप्ति को देखने से विद्वानों ने रूप में प्रातिरूप्य कहा है, अथवा, लक्षण से भिन्न होने पर भी रूप को औपाधिक माना है।। १३।।

अथवा, उपदेश से, प्रतीक भी अग्नि, सूर्य आदि के रूपों को काव्य, शिल्प आदि के साम्य से अतिरिक्त अर्थ को व्यक्त करते हैं ।। १४।।

प्रयोग की इस मुख्य दिशा से प्रयोगान्तर संसृष्ट है। जैसे, 'दीक्षायै रूपं शष्पाणि" "अश्वरथः क्षत्रस्य रूपम्", "यत्सुरा भवति क्षत्ररूपं तत्" यह प्रयोग आधुनिक 'प्रतीक' शब्द के प्रयोग से तुलनीय है। जो प्रत्यक्षीकृत होता है वह रूढिवश अथवा समयानुबन्ध से किसी परोक्ष का ज्ञापक होता है, यही 'प्रतीक' शब्द का अर्थ है। जैसे मसी-चिह्न (लिपि) वर्णों को ज्ञापित करते हैं, समय बल से अथवा विवाह के अवसर पर लाल परिधान सौभाग्य व्यक्त करता है, उसी प्रकार सामाजिक अभ्युपगम के कारण प्रतीक होता है। प्रतीकप्रतीक्यभाव सम्बन्ध के तीन सम्बन्धियों का अवगाहन करने वाले तीन अंश हैं- प्रतीक, प्रतीक द्वारा बोध्य अर्थ और पुनः सङ्केत-ज्ञान द्वारा उसके बोधन में समर्थ पुरुष। और इस प्रकार रूढ सङ्केत चिह्न ही प्रतीक है, यह पर्यवसित होता है। प्राचीन भी 'प्रतीक' शब्द का वाच्य यह अभिप्राय नाना सन्दर्भों में प्रयुक्त होने के कारण नूतन ही है।

आभासमान सृष्ट-अर्थों में प्रत्येक अर्थ अपना परिच्छिन्न रूप प्रदर्शित करता हुआ उसके द्वारा ही स्रष्टा की अपरिच्छिन्न और परोक्ष अद्भुत माया-शक्ति को प्रदर्शित करता है। जो सृष्ट अर्थों का प्रत्येक व्यवस्थित रूप है वही उनकी शोभा अथवा सौष्ठव है। जैसे,

"नभो न रूपं जरिमा मिनाति।"

यहां जरा (वृद्धावस्था) द्वारा की गई रूप-हानि का उल्लेख है। स्वाभाविक रूप ही सौन्दर्य को द्योतित करता है यह कहा जा सकता है।

सौन्दर्यवाची बहुत से शब्द वेदों में प्रयुक्त हैं और कुछ 'निघण्टु' में संगृहीत हैं। वैसे, रूप, सुख, प्रशस्य, प्रज्ञा, सत्य ये नाम अलग-अलग उल्लिखित हैं। रूप के सोलह नाम हैं। उनमें, निर्णिक् का अर्थ है शुद्धि, वव्रिः का अर्थ है आच्छादन, वपुः और अमतिः का अर्थ है कान्ति। जैसे, "तदिन्मे छन्त्सद् वपुषो वपुष्टरं पुत्रो यज्जानं पित्रोर्धीयति" वि सूर्यो अमतिं न श्रियं सात्।" अप्सः और प्सुः कदाचित् आभा को अभिहित करते हैं। जैसे, "अरुणप्सु विश्वप्सु" इत्यादि से सूचित होता है। प्सरः प्रीणयितृतमम् यह सायण (आचार्य) का व्याख्यान है। और, "जुषस्व सप्रथस्तमं वचो देवप्सरस्तमम्।" यह कहा जा सकता है कि पिष्टं और पेशः विविक्त रूप से विज्ञायमान रूप को अभिहित करते हैं। जैसे- "केतुं कृण्वन्न केतवे

पेशोमर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः।" सायण व्याख्या करते हैं- 'केतुः प्रज्ञानं पेशो रूपमिति। शुचिपेशा धीः, ऋतपेशा यह भी सुना जाता है। और यहां अवधेय है कि 'शिल्प' शब्द भी रूप के नामों में पठित है। 'शतपथ' में देखा जाता है- "यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्।" ऐतरेय (ब्राह्मण) में देव-शिल्प का उल्लेख भी मिलता है। वहां शिल्प का लक्षण भी किया गया है- "आत्मकृतिर्वै शिल्पमिति।" शाङ्खायन में देखा जाता है- "त्रिवृद् वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादित्रमिति।" कुछ लोग 'शिल्प' की व्युत्पत्ति 'पिंशति' से ही करते हैं।

सुख के नामों में, सुरम्य, सुम्न, शिव और शम् मिलते हैं। प्रशस्य के नामों में, अनवद्य, वाम और वयुन; प्रज्ञा के नामों में, केत, धी, माया, वयुन और अभिख्या। श्री, भद्र, चारु, प्रिय, चित्र, शुभ, दर्शत, रण्व, स्वादु, अद्भुत आदि शब्द भी सौन्दर्य की प्रतीति से जुड़े ही हैं। उषस् को 'सूनरी' कहा गया है, सूनर को वसु (इस रूप में) देखा गया है। अग्नि को 'सुरूपकृत्नु' कहा गया है। इस प्रकार 'रूप' शब्द तथा उसके जातीय शब्द प्रज्ञापक लक्षण में, शुचिशोभा में, रम्य में और अलङ्करण में प्रयुक्त मिलते हैं।

किन्हीं लोगों ने वेदों में सौन्दर्य की पुरुषार्थता विलक्षण ही कही है, आत्मा में ही रति कमनीयत्व है ।। १५।।

सत्त्व की उपाधियों में भासमान साकृति आनन्द आत्मविश्रान्ति से अभेद के कारण 'सौन्दर्य' कहलाता है ।। १६।।

कुछ विद्वानों ने वैदिक सौन्दर्य-बुद्धि का विवरण निबद्ध किया है। जैसे, जर्मनी देश के आचार्य पिशेल और ओल्डेनवर्ग ने और भारतीय (आचार्य) पी०एस०शास्त्री और मैणकर आदि ने।[४] ओल्डेनवर्ग ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है- "वैदिक ऋषियों ने सौन्दर्य का वैलक्षण्य नहीं समझा था, प्रत्युत लौकिक तथा पारलौकिक अर्थों (विषयों) से उसका अभेद ही उन्होंने जाना था।" सत् सौन्दर्य और श्रेयस् का ऐकान्तिक भेद वैदिक दर्शन में नहीं माना जाता, यह सही है तथापि यह दोष नहीं; क्योंकि उससे उस सौन्दर्य-बुद्धि की कोई हानि नहीं होती। सच्चिदानन्द रूप पुरुष ही परमार्थ है (तथा) सभी अर्थों का एक अकेला आयतन है : क्योंकि-

'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति', 'तस्यैव कामाय सर्वं प्रियं भवति'' इस ज्ञान के कारण सत्यज्ञान से ही अनित्य प्रेयस् को अतिशयित करने वाले श्रेयस् का लाभ होता है, और परमानन्द अभोगात्मक और असंवेदनात्मक है। 'आनन्दरूपममृतं यद् विभाति' इस स्थल में 'है, प्रतीत होता है और प्रिय है' ये तीनों पक्ष अभेद रूप से ही प्रतिपादित हैं। सत् और चित् से अभिन्न भी नित्यानन्द आत्मप्रकाशविश्रान्ति रूप परम रस है। यद्यपि यह (परम रस) विषयानन्द के सदृश नहीं है, क्योंकि विषयत्व और संवेदन दोनों (इसमें) नहीं हैं, तथापि सत् की भांति, अथवा ज्ञान की भांति समान शब्द द्वारा ज्ञाप्य लौकिक अर्थ से तुल्यता और अतुल्यता दोनों को (वह नित्यानन्द परम रस) धारण करता है। 'सत्य', 'ज्ञान' और 'आनन्द' शब्द परिच्छिन्न लौकिक अर्थ के वाचक होते हुए भी 'जहदजहल्लक्षणा' द्वारा परिच्छेद से अतीत अद्वय भूमा को उस प्रकार लक्षित कराते हैं जैसे कलाएं कलाधर को। उसी आनन्द की मात्राएं रजस् और तमस् के आवरण से मुक्त प्रतिभा द्वारा सर्वत्र सृष्टि में समझी जा सकती हैं। जैसा कि ऋषियों ने दिव्य ज्योति की प्रभा से भास्वर, ऋत से अनुगृहीत, अमृतच्छाय, अद्भुत, मधुमय विश्व को देखा और वर्णन किया। श्रेष्ठ शिल्पी या कवि दिव्यालोक में ही अशेष रूपों को व्यक्त करता है। देव विश्व को अतिक्रान्त करके स्थित है और उसमें (विश्व में) अनुप्रविष्ट है। विश्व की रूपसुषमा और रूप-कान्ति देवत्व से अभिन्न है। उसकी प्रतीति ही सौन्दर्य-प्रतीति है।

यह समझना चाहिए कि पाश्चात्यों में, सौन्दर्य के विचार में सुन्दर का उदात्त से भेद प्रतिपादित है।

सुन्दर और उदात्त का भेद व्याप्ति और अतिक्रान्ति के कारण है; इसके चरण सभी भूत हैं, इसका अमृत त्रिपाद द्युलोक में है।। १७।।

जैसे गुलदस्ते में रखे पुष्प का सौन्दर्य रूप-सम्मित सा है, जैसे, द्युलोक की अथवा अपार समुद्र की उदात्तता रूपातिक्रामिणी सी है। किन्तु वैदिक दर्शन में दोनों प्रकार का सौन्दर्य, परस्पर अविरुद्ध ही है। जैसा कि जिस भगवान् वासुदेव का संहार-भयानक विराट् रूप था, उसी (भगवान्) का भक्तवत्सल मानुष रूप अर्जुन को प्रत्यक्षगोचर हुआ। और, भक्तराज प्रह्लाद ने उसी (भगवान्) के नरसिंह-आकार को प्रत्यक्ष किया।

परिच्छेदात्मिका सृष्टि का यह रहस्य है कि विभिन्न विरुद्ध द्वन्द्वों (युगलों) का प्रकाशन साथ ही होता है। और, सभी विरोध परिच्छिन्न स्वरूप से उत्पन्न होते हैं और मानों समाहारद्वन्द्व समास को प्रकट करते हुए, समान अधिकरण में समाहृत होकर रहते हैं। और, स्रष्टा ही मायिक (मायाजन्य) परिच्छेदों के विलापन (निवारण?) द्वारा विरोधों का संहरण भी करता है। जिस प्रकार भाव-अभाव का विरोध नित्य वस्तु में शान्त हो जाता है, और जिस प्रकार ज्ञान-अज्ञान का (विरोध) साक्षिचैतन्य में (शान्त हो जाता है) उसी प्रकार रूप की व्याप्ति और अतिक्रान्ति का, सुमिति और अमिति का विरोध भी मितिहेतु, रूपसार व्यञ्जक रूप ज्योति में (शान्त हो जाता है)। ऐसा नहीं कि कुरूप-सुरूप का, सुमित-कुमित का भेद भी विलीन हो जाता होगा; क्योंकि उस प्रकार का भेद दर्शकचित्तापेक्ष होता है, अतः उसमें वस्तुनिष्ठता नहीं रहती। इस प्रकार सौन्दर्य और उदात्त का भेद रूप की सृष्टि और विलय में ही निगूढ रहस्य प्रकाशित करता है।

शङ्का होती है कि जो यहाँ वैदिक दर्शन के रूप में उपन्यस्त है वह (तत्त्व) कदाचित् औपनिषद (उपनिषदों का) हो सके; किन्तु वह प्राचीनतर ऋषियों का अभिप्रेत है ऐसा प्रमाणित करना सम्भव नहीं, क्योंकि संहिता के मन्त्रों में उस प्रकार का तत्त्व ज्ञात नहीं है। जैसा कि आधुनिक विद्वान् पूर्वकालिक और उत्तरकालिक वैदिक ऋषियों के ज्ञान में भेद का ही प्रतिपादन करते हैं। प्राचीन ऋषि बाह्य प्राकृत अर्थों का यथादृष्ट रूप से अथवा उत्प्रेक्षा के साथ वर्णन करते हैं और अपने अज्ञान के अनुसार ही जड पदार्थों में वहाँ देवत्व की कल्पना करते हैं ऐसा उन (आधुनिक विद्वानों) का अभिमत है। ऐसी स्थिति में, वैदिक सौन्दर्य-बुद्धि के विषय में ओल्डेनवर्ग प्रभृति का प्रतिपादन ही ठीक प्रतीत होता है।

ऐसा नहीं, क्योंकि आगम में श्रद्धा रखते हुए (लोगों ने) पूर्व और उत्तर युग के आर्ष वचनों में शैली का भेद ही माना है, न कि तत्त्वज्ञान का भेद।

वैदिक अद्वैत दर्शन, काल-भेद से विभेदित है। देवदेव का आभास ही विश्व-सौन्दर्य इष्ट है। क्योंकि परमेश्वर का प्रत्येक रूप में सङ्केत लक्षित होता है। उसकी व्यञ्जकता ही रूप-श्री कही जाती है।। १८, १९।।

'सत् तत्त्व एक है, विद्वान् लोग उसे बहुत प्रकार से कहते हैं' इस स्थल में स्पष्ट ही अद्वैत तत्त्व अभिव्यक्त लक्षित होता है। यास्क ने भी कहा है- 'एक ही देवताओं की आत्मा है जिसकी बहुत प्रकार से स्तुति की जाती है।' सूर्य, अग्नि,वायु आदि प्राकृत अर्थ देवता द्वारा अधिष्ठित होने के कारण चैतन्य द्वारा व्याप्त रूप से ऋषियों की प्रज्ञा द्वारा लक्षित हुए। वहाँ बाह्य ऐन्द्रिय रूप और दिव्य अनुभाव, दोनों परस्पर तादात्म्यप्राप्त रूप में वर्णित हुए हैं। मनुष्यों में भी क्या देह और आत्मा के परस्पर अध्यास के कारण उसी प्रकार नहीं देखा जाता? अग्नि आदि निष्प्राण अचेतन हैं अतः दृष्टान्त का वैरूप्य है, ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि अग्नि आदि तो देवतात्मा हैं, अतः देवताओं में चेतन-अचेतन के विभाग का कोई मतलब नहीं; क्योंकि देवत्व उपासनामात्र की अपेक्षा करता है।

इस प्रकार वैदिक मन्त्रों में देवत्व की प्रतीति और सौन्दर्य की प्रतीति को सर्वथा अलग करके नहीं देखना-समझना चाहिए । शुचिता, पवित्रता, कान्तिमत्ता, तेजस्विता, वीरता, गौरव, महिमा, अद्‌भुतता, भय-प्रीति-विस्मयजनकता और अन्य ऐसे गुण लोकविलक्षण मात्रा से वहाँ विचारे जाने पर, दिव्यत्व और सौन्दर्य में भेद की प्रतीति को दुर्लक्ष्य बना देते हैं। ज्योतिर्मयत्व, अद्भुतत्व, सङ्केतोपमत्व, इन तीन मुख्य लक्षणों द्वारा, आर्ष-दर्शन के अनुरूप रूप के स्वरूप को लक्षित किया जा सकता है। वहाँ भी साङ्केतिकता ही मूलभूत है। कलामर्मज्ञ कुमारस्वामी महाभाग ने आम्नायानुसारी आद्ययुग के काव्य और कलादि के साङ्केतिकत्व को ही मुख्य लक्षण प्रतिपादित किया है। और उसी प्रकार श्रीअरविन्द महर्षि ने भी आर्ष-काव्य का लक्षण इसी, आधिमानसिक प्रतिभा से निष्पाद्य साङ्केतिकत्व को कहा है।[१] आम्नाय का विषय जो परमार्थ है उसके स्वरूपतः नाम और रूप के अभाव के कारण, आर्ष वाणी से उसकी अभिव्यक्ति सङ्केत के द्वारा ही की जाती है। सभी भूतों में प्रत्यक्ष, दाहक-प्रकाशक आदि रूप अग्नि मन्त्रमयी बुद्धि से उपास्यमान होकर देव की तेजोमयी ज्ञानमूर्ति का प्रत्यक्ष कराता है। सङ्केत-विशिष्ट शब्द द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ अधिमानस भूमि में रहने वाले चैतन्य से अभिन्न रूप में प्रतीत होता हुआ देव-विभूति रूप में स्फुट/प्रकट होता है। नाम, रूप और कर्म से भी देव का सङ्केत किया जाता है। और सङ्केत-शब्द छन्दस् की महिमा से आर्ष-ज्ञान और देवानुभाव द्वारा आधिमानसिक बुद्धि को व्यञ्जित करते हैं।

निर्गलित अर्थ यह हुआ कि वैदिक दर्शन में रूप देवत्व का सङ्केत ही है। दिव्य कवि द्वारा सृष्ट रूप वस्तुभूत जगत्स्वरूप है, जब कि मर्त्य कवि द्वारा सृष्ट वह (रूप) वाङ्मय काव्य अथवा शिल्प है। इस प्रकार साङ्केतिकत्व, ईश्वरकृत सहज सङ्केत से सभी पदार्थों में, मानवीय सङ्केत से काव्य, कलादि में व्यापृत है। इसी आगम-परम्परा में परवर्ती भी आध्यात्मिक अर्थ के व्यञ्जक भागवत, दिव्य-प्रबन्ध, रामचरितमानस आदि नाना युगों में उत्पन्न काव्य हैं। वैदिक-युग का अन्त ही इतिहासकाव्य का काल है।

वीरों के चरित्र और इतिहासों में सूक्ष्म धर्म-अधर्म की गति और रूपभेद के लक्षण निदर्शित होते हैं।। २०।।

देवाख्यानपरक वैदिक काव्य लोकोत्तर अर्थ का साङ्केतिक व्यञ्जक होता है, जब कि वीरोपाख्यानपरक इतिहास-काव्य धर्म-अधर्म के दृष्टान्तों से व्यक्त जातीय चारित्र्य का निरूपण करता है। देवता सर्वथा मनुष्योत्तर (मनुष्यों के ऊपर) होते हैं (तथा) हृदय-गुहा में नित्य अपनी ज्योति से प्रकाशित रहते हैं। अज्ञान के वृत्र से निगूहित सी उनकी ज्योति मन्त्र-बल के सहित ज्ञान के वज्र से प्रवाहित की जाती है। मर्त्य होने के कारण देवताभिन्न होते हुए भी वीरगण मानवों से अधिक, लोकोत्तर चित्त वाले तथा अद्भुत कर्म वाले होने से, अपने चरित द्वारा धर्म की गति का निदर्शन करते हुए जातीय चारित्र्य की कल्पना का अनुसरण करते हैं। देवाख्यानों में, देवासुर-संग्राम सत् और असत्, ज्योति और तमस् के बीच बृहत् संघर्ष को ही नित्य निदर्शित करता है! फिर, वीर चरितों में स्वरूपतः सनातन होकर भी धर्म-अधर्म के बीच युद्ध युग के अनुरूप प्रवृत्ति से प्रत्यक्ष होता है। कविवर रवीन्द्रनाथ ने रामायण और महाभारत को सनातन इतिहास का नाम दिया था। इतिहास को पुरावृत्त कहा गया है और ऐतिह्य को पारम्पर्य। फिर, अभिनवगुप्ताचार्य, जहाँ 'आगमिक अर्थ कर्म-फल के सम्बन्ध के स्वभाव वाले प्रत्यक्ष परिदृश्यमान से लक्षित होते हैं', उसे 'इतिहास' कहते हैं।[१०] पुरावृत्त रूप से वर्णित, पारम्पर्य से आगमित मानव-चरित के निदर्शन को ही सनातन तत्त्व का प्रकाशक, प्रत्यक्ष जैसे लगने वाली वस्तु वाला 'इतिहास-काव्य' कहना ठीक लगता है। यह इतिहास आधुनिक दृष्टि से अवधारित इतिहास नहीं है, जहाँ लौकिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान से समर्थित ही, सामान्य लोक स्वभाव के प्रमाण से सम्भाव्य जन-चरित ही शङ्कान्त

प्रयुक्त तर्क द्वारा याथार्थ्य के व्यवसित होने पर निबद्ध होता है। जैसा कि जनश्रुति मात्र से परीक्षित पुरावृत्त, जो विश्वास के अनर्ह हो, 'इतिहास' के नाम से अभिहित नहीं होना चाहिए, यह नया मत है। जानपदिक भावों के ग्रहण से पहले ही यायावर लोगों के परस्पर युद्धों में उनके नेताओं के चरित, जो निरङ्कुश मात्र कल्पना से निबद्ध हैं, इतिहास के ज्ञान के साधन मानने योग्य नहीं हैं। तब भी, जैसे देवाख्यान-कल्पनाओं में कुछ विद्वान् जातीय नियति का प्रतिबिम्ब लक्षित करते हैं,'' उसी प्रकार वीराख्यानों में बहुतर लोग उस युग के अनुकूल धर्मविषयक जातीय कल्पना को लक्षित करते हैं। यद्यपि इतिहास-काव्य में उपवर्णित वृत्तान्त यथार्थ होते हैं अथवा नहीं, यह सन्दिग्ध ही है, तथापि उसमें वर्णित वीर चरित्रों की जातीय-संस्कारनियामकता असन्दिग्ध ही होती है। जैसे राम आदि के शीलगुणमय चरित श्रेयस् चाहने वालों के लिए उपास्य हैं न कि खल रावण आदि के, यह बात भारतीयों के मन में दृढ़ता से अङ्कित है, राम आदि पुरुषों के रूप-भेद का आदर्श सा उपस्थापित करते हैं। इस प्रकार, इतिहास-काव्य में उपवर्णित चारित्र्यरूप शीलादर्श के प्रज्ञापक लक्षण हैं ऐसा कहा जा सकता है। और इस प्रकार रूपतत्त्व मानवविषयक तत्त्वप्रत्यक्ष का लक्षण ही है यह समझना चाहिए। युधिष्ठिर, अर्जुन आदि, दुर्योधन, शकुनि आदि और राम, वासुदेव आदि द्वन्द्वोपहत अस्थिर स्वभाव वाले सामान्य पुरुषों के निदर्शनभूत नहीं हैं, प्रत्युत उन-उन उदग्र चित्तवृत्तियों वाले विलक्षण पुरुष-रत्नों के ही (निदर्शनभूत हैं)। उनके चरित वृत्ति-विशेष के प्राधान्य के अनुरोध से कर्मफलस्वभावरूप धर्म को ही प्रत्यक्ष कराते हैं।

उत्तरकाल में, जब श्रमण-धर्म का प्रचार हुआ, पुरुष का स्वभाव और पुरुषार्थ, दोनों भिन्न रूप से अवधारित हुए। "आनन्द से ही ये भूत उत्पन्न हुए" इत्यादि सोल्लास दृष्टि मन्द पड़ गयी। जगत् दुःखात्मक, अनात्मक और अनीश्वर और अविद्या-काम-कर्मनियत है ऐसा उत्तरोत्तर, लोग मानने लगे। तब रूप को मारपाश ही माना गया। देवों और युद्धवीरों के आख्यान कालकवलित हो गये। कवियों तथा रूपकारों ने धर्मवीरों के वैराग्य और तपस्या की कथाओं को अपनाया। वैदिक दृष्टि से रूप, एक ओर ज्योति से अभिन्न सत् का प्रकाशक (माना गया), दूसरी ओर मायिक होता हुआ आवरक। इस प्रकार रूप वैदिक दृष्टि से सत्प्रभा भी (और)

मायिक प्रतिभास भी (हुआ)। किन्तु श्रमण-दृष्टि ने सृष्टिवाद अथवा अद्वैतवाद को स्वीकार नहीं किया।

बौद्धों ने सप्रतिघ (जो अपने स्थान पर दूसरे को नहीं सहन कर सकता) ऐन्द्रियाभासलक्षण रूप को विज्ञानाकृतिमात्र अथवा प्रतिबिम्ब माना।। २१।।

बौद्धों ने रूप को भौतिक और ध्यानमय माना है। बाह्य इन्द्रियों की विषयभूमि में, काम-लोक में स्थित रूप वंचक के समान होता है और ध्यान द्वारा विशुद्ध रूपलोक प्राप्त किया जाता है। ध्यान प्रज्वलित चित्तज्योति ही है, उससे रूपलोक, अरूपलोक और परमार्थ प्रकाशित होता है। इस प्रकार ध्यान अनैन्द्रियक प्रत्यक्ष का हेतु है। ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के अतीत मनोविज्ञेय अर्थ 'धर्मायतन' हैं, यह प्रसिद्ध है । उसी प्रकार, प्राचीन बौद्ध विचार में, नाम तथा रूप की और धर्म तथा रूप की चर्चा मिलती है। प्रायः, नाम और रूप का अर्थ चित्त-चैत्त और भूत-भौतिक लिया जाता है। और, 'नाम' शब्द चित्त का वाचक देखा जाता है। और, रूप उसके (नाम के) अतिरिक्त विषयसमूह है। इस प्रकार, जिस अर्थ में वैदिक लोग नाम और रूप, इन दोनों का प्रयोग करते हैं उससे प्राचीन बौद्ध प्रयोग भिन्न है। धर्म और रूप के समाहार में भी धर्म रूप का प्रतियोगी* लगता है। कुछ विद्वानों ने बौद्धों के धर्म और रूप के भेद में धर्म की, वैदिक ब्रह्म से तुलना की है। ब्रह्म को जगत् का कारण माना जाता है। कारणता भी इच्छा-पुरस्सर चेतन के व्यापार के रूप में मानी जाती है। धर्म भी विश्व का नियामक है, किन्तु यहाँ कारणता चेतन-व्यापार के तुल्य नहीं है। धर्म का नियम सभी विषयों का स्वभाव-पारतन्त्र्य ही है, जन्यजनकभाव स्वभाव से ही प्रवर्तित होता है, यहाँ 'प्रतीत्यसमुत्पाद' नामक जो सापेक्षवाद बौद्धों के अभिमत था उसमें इस प्रकार कोई कर्ता अपेक्षित नहीं है। इस प्रकार, उत्पन्न और नष्ट होता हुआ जगत् प्रतिक्षण कर्तृनिरपेक्ष (तथा) स्वभावपरतन्त्र है। किन्तु यह यदृच्छावाद अथवा जडस्वभाववाद नहीं है। चेतन पुरुषों के कर्म ही लोकों की रचना करते हैं और नानाविध भोगों को प्रत्युपस्थापित करते हैं। पुरुष भी न शाश्वत हैं न द्रव्यसत् हैं; क्योंकि

* यस्य सम्बन्धः स प्रतियोगी।

नाना चित्तों की धाराएं ही विभिन्न शरीरों के स्वीकार द्वारा कर्म-फल के नियम से संसरण करती हैं।

इस प्रकार, प्राचीन बौद्धदर्शन के सन्दर्भ में, अनीश्वरवाद, अनात्मवाद के साथ चित्त और रूप इन दो पदार्थों का विवेक मुख्यतया कल्पित है। दोनों के नियामक धर्म को अन्ततः कर्मफल-सम्बन्ध के स्वभाव वाला (तथा) चित्तस्वभावमूलक ही कहना चाहिए।

राग और त्याग के विषय होने के कारण, बन्ध और मोक्ष के कारण, भोग्य होने के कारण और शांति के कारण रूप दो प्रकार के सौन्दर्य वाला है। ।। २२।।

रूप चित्त की प्रतिष्ठा, काम और भोग का आलम्बन और इन्द्रियों का बन्धन है। अतएव बौद्ध आचार्यों ने रूप के प्रति वितृष्णा ही प्रकाशित की है। बौद्ध काव्य में, बहुत स्थलों पर संसार की दुःखात्मकता वैराग्य की शान्तिजनकता और शान्ति की उत्तमता ही व्यक्त हुई है। मृत्यु के संवेग को चमत्कारी रूप से वर्णित किया है। जैसे,

''को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति।
अंधकारेण ओनद्धा पदीपं न गवेस्सथ।।''

"नित्य प्रज्वलित होने की स्थिति में, हास कैसा और आनन्द क्यों? अरे अन्धकार से ढके लोगों, प्रदीप की खोज क्यों नहीं करते!"

यह ध्यातव्य है कि मृत्युजन्य संवेग को विषय बनाकर बहुत स्थलों में वैराग्यपरक काव्य की प्रवृत्ति अन्यत्र भी देखी जाती है। जैसे महाभारत के प्रसिद्ध गृध्र-गोमायु संवाद में। और स्थविर वीतशोक की प्रसिद्ध गाथा है-

"मेरे केशों को काटेगा इस विचार से नापित के पास पहुँचा। वहाँ दर्पण को लेकर शरीर का निरीक्षण किया और अपने शरीर को तुच्छ रूप में देखा। तदनन्तर उसका अज्ञान रूपी अन्धकार हट गया।" स्थविर अपने बाल कटाने के लिए नापित के पास गये, आईने में अपने को देख ही रहे थे कि उन्हें सहसा वैराग्य हो गया!

अन्य भी सुप्रसिद्ध आदर्श नाम का पर्याय है जहाँ आनन्द ने ज्ञान प्राप्त किया। उपनिषदों में आत्मा नाम और रूप का विषयी भी है, उनमें (नाम और रूप में) अनुप्रविष्ट भी उनके प्रतियोगी रूप से ही ज्ञातव्य है, यह प्रतिपादित कर ही चुके हैं। नाम और रूप का विज्ञान पराग्वृत्ति (बाह्यवृत्ति) से ही शक्य है। आत्मविज्ञान बहिर्वृत्ति के निषेध के साथ प्रत्यग्वृत्ति की अपेक्षा करता है। इस प्रकार, रूप बाह्य है और अनात्मविषय है, इसलिए उससे पलटकर ही आत्मज्ञान सम्भव है। आईने (आदर्श) में अपने मुख का दर्शन भी तो उससे परावर्तित होने वाली रश्मियों से ही होता है, यह वहाँ आत्मज्ञान का प्रत्यक्ष ही निदर्शन उपलब्ध होता है। जो रूप बहिर्मुख चित्त का बन्धन है वही निषिध्यमान होकर स्वरूपबोध में कारण होता है। वेदान्त-दर्शन में और सांख्य-दर्शन में यही अतद्व्यावृत्ति (नेति-नेति इत्यादि कथन द्वारा आत्मभिन्न की व्यावृत्ति) बाह्य, आभ्यन्तर विषयों को व्याप्त करती है। और उसी प्रकार, रूप के साथ चित्त भी निषेध्य कोटि में निवेशित होता है। बौद्धों में आत्म-प्रतीति को चित्त की अहंकृति से अलग नहीं किया जाता है। चित्त और रूप, इन दोनों को ही अनात्मभूत माना जाता है, क्योंकि वहाँ स्थिर तत्त्व नहीं है और आत्मा चित्त से भिन्न रूप में उपलब्ध नहीं है। तथापि प्रत्यवेक्षा से देहात्मक रूप के और चित्त के दुःख-नित्य के विषय होने से (उनका) अनात्मकत्व समझा जाना चाहिए। वैदिक दृष्टि से विषयों से परावर्तन करके आत्मबोध अभिमत है। वैरोचन ने जल में अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देखकर उसी को अपनी आत्मा समझ लिया। किन्तु इन्द्र ने उसे निषेध करके देहातिरिक्त आत्मा का अन्वेषण किया। बौद्धों ने दर्पणगत प्रतिबिम्ब के निषेध द्वारा आत्मा का ही निराकरण कर दिया। उन्हें लगा कि आत्मप्रतीति प्रतिबिम्ब की भांति प्रातिभासिकी है।

यह प्राचीन वैभाषिक दृष्टि है, जिसने चित्त और रूप को अनित्य वस्तुभूत मानते हुए आत्मा को ही अवास्तविक विज्ञापित कर डाला। रूप वस्तुसत् होते हुए भी अनित्यता के कारण सदोष है, अतः त्याज्य है। आत्मा तो अवस्तु होने के कारण त्याज्य है। इस पर आशङ्का करते हैं कि इस प्रकार समझे हुए रूप का, सौन्दर्य-बुद्धि से क्या सम्बन्ध है? क्योंकि सौन्दर्य-बुद्धि का विषय रूप वस्तु-अवस्तु के विवेक की उपेक्षा करने वाला (सौन्दर्य-बुद्धि की प्रयोजकता वास्तविकता-अवास्तविकता में नही हैं

बल्कि प्रतीयमानता में है।) और प्रतिभासमात्रनिष्ठ है। इस प्रकार बौद्धागम में प्रयुक्त 'रूप' शब्द सर्वथा ही प्रकृत प्रसङ्ग में उपयोगी नहीं है। ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं कि,

नहीं, सौन्दर्य-बुद्धि के विषय का विवेचन बुद्धिमात्र के विषय के विवेचन की अपेक्षा करता है। प्राचीन बौद्धों ने रूप को वस्तुभूत और हेय माना है, इस कारण सौन्दर्यबुद्धि को भी कामसुखादि की बुद्धि की भांति हेय कोटि में रखा है। जैसा कि भिक्षुओं के प्रति भगवान् बुद्ध का अववाद (उपदेश) नृत्य, गीत, चित्र आदि के दर्शन के निषेध के उद्देश्य से है। तब भी स्मरणीय है कि प्राचीन बौद्धागम में सौन्दर्य-बुद्धि सर्वथा तिरस्कृत नहीं की गयी है।[२२]

बौद्धों का शम-प्रधान काव्य प्रसादगुणयुक्त है, तथा वहाँ प्रकृति की रम्यता चित्त की भांति प्रकाशमानता है।। २३।।

जैसा कि ज्योत्स्ना, वन, वृक्ष, नदियाँ-इत्यादि विषय प्रसादगुणयुक्त और रमणीय कहे गये हैं; क्योंकि वहाँ चित्त-प्रसाद, अकाम प्रीति और शान्ति प्रत्यक्षलभ्य होते हैं। 'ध्यानजन्य निष्काम प्रीति के सुख के जैसा वह सुख है उससे डरना नहीं चाहिए' यह भगवान् का वचन भी याद आता है। इस प्रकार निसर्गरमणीय दृश्य बौद्ध काव्य में शान्त को विभावित करते हैं। शान्तपरक काव्य को उन्होंने (बौद्धों ने) उपादेय माना है। जैसे -

"जब शुचि श्वेत पंखों वाली वक-पंक्ति (बलाका) काले मेघ के डर से तर्जित हो शरणार्थिनी होकर शरण (आलय) की ओर भागने लगती है तब अजकरणी नदी मुझे विश्रान्ति देती है।।"

रम् धातु के मूल अर्थ के विश्राम-परक होने के कारण स्वात्म-विश्रान्ति ही 'रति' शब्द का अर्थ कहा जाना चाहिए । रमणीयता भी चित्त-विश्राम का हेतु होने के कारण ही रमणीयता कही जाती है। और, यह विश्रान्ति भी सम्मोहजन्य नहीं है, अपितु मन की निर्मलता से उत्पन्न है अतः वह 'प्रसादगुणयुक्त' कही गयी है।

इस प्रकार वैभाषिक मत के अनुसार, रूप वस्तुसत् और स्वभावनिष्ठ, हेतु-प्रत्यय द्वारा निर्मित, चित्त से व्यतिरिक्त है। और, उसके (चित्त के)

आलम्बन का प्रत्यय न प्रातिभासिक है और न ही साक्षात् चित्त कीअपेक्षा वाला है। उसमें, काम-विषय होने के कारण जो प्रियत्व की प्रतीति है वह अज्ञान-निबन्धन है, अशुभभावना से और विभज्यवादपरक (विश्लेषणात्मक) विचार द्वारा निवारणीय है। किन्तु शान्त की उद्दीपन रूप निष्कामता असङ्गता वहाँ प्रासादिक रमणीयता है, (और) ध्यान, विपश्यना आदि की सहयोगी होने के कारण उपादेय ही है। उसी प्रकार सौन्दर्यबुद्धि का विषय होने के कारण रूप चाहे कामासक्ति का विषय हो, चाहे निष्काम ध्यान का विषय हो। और इस कारण निर्गलितार्थ यह हुआ कि काव्य में प्रज्ञा द्वारा विचार्यमाण रूप या तो उसका समुचित विषय हो, या ध्यानप्रवण भावना से भाव्यमान हो।

विचार से तथा ध्यानं से ही सौन्दर्य अलौकिक प्रतीत होता है। प्रतिबिम्बत्व के बोध के कारण काल्पनिक रूप शान्त (उद्वेगरहित) होता है।। २४।।

अर्थक्रियात्मक सत्त्व रूप कैसे अपने द्वारा जन्य विज्ञान से साक्षाद् ग्राह्य होगा, अतः बाह्यार्थ स्वभाव का अपरोक्ष लक्षण से भेद समझना चाहिए- यह सौत्रान्तिकों ने तर्क से प्रतिपादित किया था। सामने प्रतिभासमान रूप विज्ञान का साक्षात् निमित्त है, निर्विकल्प क्षण का हेतु होता हुआ भी स्वयं विज्ञानाकार ही हो सकता है। बाह्यार्थ स्वभाव के स्वलक्षणात्मक मान लेने पर भी उसके शब्द के द्वारा अकथनीय होने के कारण उसका लक्ष्यमाण रूप सामान्य लक्षण विज्ञान पर ही आधारित है, किन्तु विकल्पित होने के कारण व्यवहार के अविसंवादी होने पर भी उस प्रकार वस्तुसत् नहीं है। और इस प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष का विषय बना हुआ रूप अनादि वासना की अपेक्षा करने वाला, काल्पनिक और केवल प्रतीति रूप ही सिद्ध होता है। वर्णनीय अथवा रचनीय रूप सामान्य विशेष रूप होने के कारण कल्पना का विषय ही है, न कि प्रतिभास-विषय त्रैलोक्य से व्यावृत्त, स्वलक्षण है।

सौन्दर्य के निर्णय में अतिव्याप्त होने के कारण निरूपणीय विषयत्व का व्यापक काल्पनिकत्व अप्रयोजक है, ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि कल्पना-विशेष ही प्रयोजक है। जो कल्पना सांवृत ज्ञान (व्यावहारिक ज्ञान)की उपकारिणी होती है वह सर्वसाधारण सहज विकल्पों को प्रतिभास

रूप में गृहीत अर्थ से नियमतः जोड़ती है; किन्तु क्रियोपकारिणी कल्पना सांवृत ज्ञान से सम्प्रयुक्त होकर भी कर्मानुकूल उपाय वाली होकर (बनकर) प्रवृत्त होती है। और, चूँकि क्रिया कर्ता के अधीन होती है, अतः (उसका) कर्ता के स्वभाव, वासना, ज्ञान के प्रयोजन के सामर्थ्य आदि पर आश्रित होने के कारण अनियतत्व अनिवार्य है। इस प्रकार काव्य, शिल्प आदि में यथेष्ट और विज्ञान के अनुसार रचनावत्त्व ही रूप के सौष्ठव का अवच्छेदक (नियामक) है। कवि और शिल्पी बाह्य अर्थ का, लोक-साधारण रूप से प्रत्यक्ष करते हुए अपनी मनीषा से अपूर्व अर्थ से जोड़ कर प्रस्तुत करते हैं, अथवा अपूर्व स्वबुद्धि को नाम और रूप के संयोजन से बाह्यार्थ की भाँति प्रकाशित करते हैं। और, इस प्रकार रूप में संरचनात्मकता दोनों प्रकार से लक्षित होती है, ज्ञेय में ज्ञानाव्यभिचारी विकल्प की योजना से, और कार्य में साध्य-साधन प्रकार की योजना से। सामने स्थित वृक्ष शुष्क है यह ज्ञान स्वविषयभूत रूप को तटस्थ वर्णनीय रूप से उपस्थापित करता है, वहाँ वृक्ष की नीरसता को खेदावह समझता हुआ उसी विषय को काव्य अथवा शिल्प में रूपान्तर द्वारा रचता है। उससे समझना चाहिए कि रूप दृश्य का आकार है और निरूपण का प्रकार है।

विज्ञानवादियों ने बाह्यार्थ के निषेध द्वारा विषयों के विज्ञानाकारमात्रत्व के प्रतिपादन से तथा विज्ञानाकारों का अन्ततः वासनामूलत्व माने जाने से, रूपमात्र को स्वप्न-सदृश ही माना है।[१३] वासना ही मायोपम विश्व का निर्माण करती है, विषयाकार की निर्माणशक्तिरूप कल्पना चित्तस्वरूपभूत ही है। चित्त के अन्तर्भूत भी व्यवहार वस्तुगत बाह्यार्थ-प्रतीति रूप अविद्या से परिगत, कर्मायास दुःखादि से युक्त है। और वहाँ बाह्य रूप चित्त का प्रतियोगी होने से जड लगता है। विषय के विज्ञानमयत्व के अवबोध में तो उनका संवेदन भी स्वपरामर्श में पर्यवसित होता है और उससे चित्त की परावृत्ति होती है। काव्य, शिल्प आदि भावना में यही बात समान रूप से लक्षित होती है। सौन्दर्य-बुद्धि के विषय रूप में, तत्काल बाह्यवस्तुत्व की प्रतीति के स्थगित होने तथा (बाह्यवस्तुत्व के) मूल व्यवहार-बुद्धि के शिथिल हो जाने से काव्य, शिल्प आदि में विज्ञानवाद अंगीकृत सा होता है। व्यावहारिक लोक के प्रतिबिम्ब जैसा काव्य, शिल्प आदि सौन्दर्य-बुद्धि का संसार है। और वह (संसार) कार्य-कारण भाव से परतन्त्र, बाह्यवस्तु-कलाप होकर भी चित्त के आभ्यन्तर भाव का प्रतिबिम्ब स्वरूप ही है।

शून्यवादी बौद्ध लोग रूप और उसके ग्राहक चित्त दोनों का, निःस्वभाव प्रतिबिम्ब मात्र रूप से प्रतिपादन करते हैं। संसार जिसका आलम्बन स्वभाव है, उसका एकमात्र सत्य दुःख है, महाकरुणा का आलम्बन है निःस्वभावता। और, प्रतिबिम्ब मात्र रूप संसार के लिए भी होता है और निर्वाण के लिए भी। और, संसार तथा निर्वाण का कोई परमार्थतः भेद नहीं है। यही रूपप्रतिबिम्ब है, ऐसा रूपविषयक बौद्ध चिन्तन पराकाष्ठा को प्राप्त करता है।

बुद्धकाय प्रारम्भिक युग में निर्माणकाय रूप से स्फुरित हुआ, अनुस्मृति से उसकी प्रतिमा प्रतिबिम्ब के जैसी है।। २५।।

बुद्धकाय को उद्देश्य करके, प्रारम्भिक युग में, बुद्ध का रूपकाय स्थूल शरीर से अभिन्न 'पूतिकाय' कहा गया और धर्मकाय शिक्षा-समूहात्मक समझा गया। कालान्तर में जो अनास्रव रूप की कल्पना की गयी, जिसका प्रभास्वर (रूप) चित्त जैसा ही, और अप्रमाण है। 'निर्माणकाय' भी उसकी संज्ञा सुनी जाती है, और वह पातञ्जल-दर्शन में कथित निर्माण चित्त के जैसा है। महायान में तीन काय लक्षित होते हैं-धर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय। धर्मकाय परमार्थ ही है, अद्वय और अनिर्वाच्य है; सम्भोगकाय ज्योतिर्मय है , बोधिसत्त्वों के उपदेश के लिए परिगृहीत है; निर्माणकाय मनुष्य-भूमि में प्रतिभासित मानव आकृति वाला है। निर्माणकाय अवतार जैसा लक्षित होता है। और, उसका रूप प्रतिबिम्ब ही है। और भगवान् की महाकरुणा का आलम्बन प्रतिबिम्ब जैसी शून्यता है। वही निर्माणकाय बुद्ध की प्रतिमा का मूल है। रूपकारिता भी वहाँ ध्यानमूलक है। इस प्रकार रूप स्वभाव से रहित, प्रतिबिम्बमात्र है, जो ध्यान में स्फुरित होता है। और रूप के तत्त्व की भावना करने वाले के लिए उसका आस्वाद शान्त है। आचार्यों ने महाभारत के शान्तरसत्व की बात कही है, यह प्रसिद्ध है। बौद्ध काव्यों में भी शान्त (रस) का प्रकर्ष स्पष्ट ही लक्षित होता है।[१४]

यह व्यवहार से सिद्ध है कि स्वभाव से विद्यमान वस्तु रूप द्वारा लक्षित होती है। बौद्धों की, धर्म और धर्मी में अभेद की प्रतिपत्ति तथा क्षणिकत्व की प्रतिपत्ति के कारण व्यक्त और अव्यक्त लक्षण और स्वभाव का भेद दुष्कर है। लक्षण प्रतिभासगोचर रूप है, और स्वभाव उसका (रूप

का) बाह्य अर्थात्मक हेतु है, अतः लक्षण और स्वभाव दोनों रूप के स्वरूपभूत ही हैं। प्रतिभास से अव्यवहित-विषय होने के कारण लक्षण विज्ञान का प्रकार है तथा बाह्य वस्तु में अर्थक्रियासामर्थ्य भी है। और, प्रतीति के हेतुभूत वस्तु-स्वभाव को प्रतीति-पूर्व क्षणिक होना चाहिए, अतः प्रतीति से अव्यवहित लक्षण प्रतीत्याकार ही है, ऐसा समझा जा सकता है। क्षणिक बाह्य प्रतिभास और उसका विषय, ये दोनों क्षणिक होते हुए भी समान रूप से एक क्षण में नहीं हो सकते (क्योंकि उनमें कार्यकारण भाव है) बाह्य विषय के त्रैलोक्य से व्यावृत्त स्वलक्षण होने के कारण, प्रतिभास के विषय लक्षण में उसका सादृश्य अथवा अनुकार सम्भव नहीं है और, प्रतीत लक्षण अभिलाप सर्ग (शब्द संसर्ग) के कारण सामान्य लक्षण कहा जाता है। इस प्रकार प्रतिभास के विषय होने के कारण लक्षण बाह्यार्थ का प्रत्यक्ष रूप है, किन्तु बुद्धि का विषय संकेत के संसर्ग से विकल्पित सामान्य लक्षण है। सामान्य लक्षण अवस्तु का विषय होने पर भी परम्परा से संवादी भ्रम के कारण वस्तु का ज्ञापक है, अतः लक्षण स्वभावात्मक है और रूप वस्तुगत है, ऐसा कहा जा सकता है। प्रतिभास-भूमि में रूप अतर्क्य, अव्यवहित और उपस्थिति के अनुसार गृहीत है, और विकल्पभूमि में रूप ज्ञान का आभ्यन्तर विषय ही है। भूमिभेद से रूप विषय का प्रतिभास है, अभिज्ञापक, लक्षण और सङ्केत है।

इस पर शङ्का होती है कि इन दोनों भूमिकाओं में रूप-सौष्ठव की बुद्धि का कहाँ निरूपण होना चाहिए ? व्यवहार में रूप की शोभा पूर्वसिद्ध की भांति प्रतीयमान होती हुई भी निरपेक्ष धर्म-बुद्धि के रूप में लक्षित नहीं होती। और, इस प्रकार प्रतिभास और अध्यवसाय के मध्य स्थित वह (रूप-सुषमा) उभयतः बाधित ही है, ऐसी स्थिति मे-

लोक और धर्म की अनुगामिनी कल्पना दो प्रकार की कही गयी है। नैरात्म्य-भावना के कारण निर्वृत धर्म विमल प्रतीत होते हैं।। २६।।

वस्तुतः, दो भूमियों का अवगाहन करने वाली कल्पना को द्विविध समझना चाहिए । प्रत्यक्ष के तत्काल (अनन्तर) उत्पन्न होने वाले विकल्प रूप से वह प्रतिभास के विषय को निमित्त बनाती हुई ज्ञान का आलम्बन बनती है। किन्तु नामादि के विकल्प रूप से उसी विषय को अध्यवसित

करती है। प्रथम कल्पना स्वभाव-विकल्प या वितर्क कहलाती है और दूसरी मानसी प्रज्ञा, जहाँ निरूपण-विकल्प अथवा विचार अनुस्मृति-सहित ग्राह्य है। और, द्वितीय कल्पना के साथ वेदना-सम्प्रयुक्त विज्ञान (उत्पन्न) होता है। जैसा कि कहा है- "चैतसिक सुख-दुःख प्रायः विकल्पना से उत्पन्न होता है" (अभिधर्मकोश, २.८) । और, इस प्रकार सौन्दर्य-भावना के विषय के सुख-सम्प्रयुक्त होने के कारण, उसे बुद्धिविकल्प ही मानना चाहिए, न कि बाह्य विषय। विज्ञानवाद और शून्यवाद में तो बाह्य विषय का ही निषेध माना गया है, उस विषय की बुद्ध्याकारमात्रता अथवा प्रतिबिम्बमात्रता ही प्रतिपादित की गयी है। किन्तु सर्वथा रूप-सुषमा बाह्यार्थविषयमूलक नहीं होती, प्रत्युत विकल्पनाविशेषमूलक होती है। विषयों के विचार्यमाण उनके लक्षण अनित्यत्वादि लक्षणों से अभिभूत होते हैं, और विषय तब हेय पक्ष में स्थापित होकर वैराग्य से अवलम्बित होते हैं। और तो भी उनका निरूपण काव्य अथवा कलाओं में दुःखापगम प्रतीति के व्यञ्जक होने के कारण, रमणीय प्रतीत होता है। सभी धर्मों की शून्यता के ज्ञान के कारण, अथवा सभी धर्म बुद्धत्व है, ऐसे बोध के कारण काम-लोक, रूप-लोक और अरूप-लोक के बन्धन से पार होने से जो परमशान्ति का अनुभव होता है उसके अनुकूल कल्पना द्वारा भी काव्य और कला में रमणीयता-विशेष लक्षित होता है।

प्रवृत्तिप्रधान ब्राह्मणवाद और निवृत्तिप्रधान श्रमणवाद का विरोध समयानुसार शान्त हो गया। महायान में उपनिषदों का ब्रह्मवाद 'शून्य' के नाम से और स्मृति तथा पुराणों में निवृत्ति-मार्ग स्वीकृत हुआ। और, तब से परमार्थसत् और जगत् का बिम्ब-प्रतिबिम्बभावकृत अभेद ही माहायानिकों और वेदान्तियों ने प्रायः माना। दूसरों ने भी ईश्वर, सिद्ध, बुद्ध, जिन आदि लोकोत्तर महिमा से सम्पन्न पुरुष भक्ति के विषय कल्पित हुए, जिनके लोक-सदृश या लोक-विसदृश चरित भावनीय हुए तथा काव्य और कलाओं में निरूपणीय हुए। इस प्रकार मानव-लोक में मानवोत्तर सत् की प्रभा और मानवोत्तर सत् में मानवी प्रतिमा लोगों द्वारा श्रद्धा की दृष्टि से देखी गयीं।

आधुनिक इतिहासविद् लोग मौर्यकाल से लेकर गुप्तकाल तक फैले, नाट्य, शिल्प, काव्य आदि के उत्कर्ष को प्रकट करने वाले तथा विद्या-सम्प्रदाय और कला-सम्प्रदाय के प्रमाणभूत युग को 'श्रेण्य' (युग) कहते

हैं। उसके पहले के काल का काव्य-वैभव लुप्त, और अल्पावशिष्ट था, जिसमें अशेष शिल्प-कृतियां, जो लुप्त हो चुकी थीं, को भी किसी प्रकार अनुमेय सौन्दर्य के साधन के मार्ग वाली (माना गया)। अनुमान के साधन तो अवशिष्ट काव्य-लक्षण और संगीत आदि कलाओं के विवरण हैं । और, उसमें काव्य, कला आदि का साध्य, रमणीयत्व के पद की प्रतिष्ठा देने योग्य अतिशय, रूप का अतिक्रमण करके स्थित है। यज्ञविधि के द्वारा कल्पित रूप से निष्पाद्य वैदिकोपासना में देव-प्रतिमा का उपयोग अविदित ही है। प्राचीन श्रमण भी प्रतिमा के विधान में अनुत्साही ही दीखते हैं। तब भी मौर्य तथा शुङ्ग युगों में शिल्प का उत्कर्ष उनसे पूर्वतर युगों से प्राप्त परम्परा की समृद्धि को सूचित करता है। उन पर पारसीक तथा यवन शिल्पियों के प्रभाव को ही हेतु नहीं मानना चाहिए; क्योंकि प्रवृत्ति का भेद स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।

वेदों का युग जनप्रधान है, तदनन्तर जानपद युग है, तदनन्तर साम्राज्य और उसके अनन्तर सामन्तों का युग है। इस प्रकार वैदिक, जानपद, साम्राज्य और सामन्त युग के अनुक्रम से रूप की कल्पना में भेद हुआ, प्रतीक, लक्षण, प्रतिमा और अलङ्कृति के भेद क्रमशः हुए ।। २७, २८।।

वैदिक, जानपद, साम्राज्य और सामन्त इन चार युगों में चार प्रकार का रूपतत्त्व अवधारित प्रतीत होता है। संक्षेप से, सङ्केत, लक्षण, प्रतिमा और अलङ्कार स्वरूप चार अवधारणाएं हैं। वेदों में उपलब्ध होने वाली देवताओं की छवि लोकातिशायिनी शोभा को ही आविर्भूत करती है। इतिहास-काव्यों में भी वीर-चरित सामान्य लोकचरित से बढ़कर है। वह सामान्य लोकचरित से ऊपर उठकर एक अपूर्ण प्राजापत्य सृष्टि की अवतारणा करता है। प्राचीन श्रमण काव्यों में भी रूपातीत ही अर्थ गवेषित होता है। और, लोक-प्रवृत्ति के प्रत्याख्यान के साथ वैराग्य, शान्ति, समाधि, तपस्या आदि प्रवृत्तियाँ अभिव्यक्त होती हैं। इस समस्त वाङ्मय में दृश्य रूप अप्रधान है। चाहे देवत्व हो अथवा वीरत्व हो, वह दृश्य रूप से नहीं पहचाना जाता, प्रत्युत वह विवेक के गोचर गुण और कर्म की महिमा से ही पहचाना जाता है। जिस प्रकार छिपे स्वरूप वाले पाण्डव अथवा सारथि का वेष ग्रहण किये हुए वासुदेव, अथवा तापस वेष वाले राम और लक्ष्मण दृश्य रूप से अभिज्ञेय नहीं हैं, उसी प्रकार वस्तुतः सभी वीर देवांश के

अवतार होने के कारण मानव होने पर भी उस रूप से सम्यग् रूप से विज्ञेय स्वभाव वाले नहीं हैं। हनुमान् आदि वानर शरीर वाले भी देवकल्प वीर वहाँ इस तथ्य का स्थूल निदर्शन हैं। देवता परोक्ष-प्रिय होते हैं, यह वचन प्रसिद्ध ही है, वीर भी राम, कृष्ण आदि ने अपने तेज को मानव के रूप में छिपा रखा था, अतः उनके चरित्र सुविज्ञेय नहीं थे; क्योंकि कहा है- "लोकोत्तर लोगों के चित्तों को कौन भली प्रकार जान सकता है?"

शिल्प और नाट्य सम्प्रदायों में देव आदि का प्रदर्शन उपलब्ध होता है, ऐसा कथन ठीक नहीं; क्योंकि वहाँ प्रमाण-वैशिष्ट्य और वेश-वैशिष्ट्य में ही प्रधानतया आग्रह होता है, न कि रूपानुकृति में। जो प्रदर्शित होता है वह अभिव्यापक साङ्केतिक लक्षण ही है, यथार्थ प्रतिरूप नहीं, क्योंकि अनुकार्य के रूप का ही अभाव है। नाट्य और शिल्प में तथा नाना देशों की परम्पराओं में प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध, भरत, अरस्तू प्रभृति मनीषियों द्वारा समर्थित अनुकृतिवाद मूल अनुकार्य के रूप को प्रतिपादित ही करता है, ऐसा कहना ठीक नही; क्योंकि वहाँ अरूप, तत्त्वात्मक मूल ही विवक्षित है। वहाँ अनुकरण भी साङ्केतिक निर्देश के अनुसार तत्त्वानुभावन अथवा अनुकीर्तन है, न कि प्रतिरूपण। शिल्पागम मूलतः देवोपासनापरक होता है, अतः वहाँ लौकिक अर्थों का निवेश अङ्गभाव से गौण ही है। वहाँ देवताओं का निरूपण आगम में सिद्ध लक्षण, प्रमाण आदि के निर्देशों से ध्यान और उपासना के उपयोग के लिए होता है।

इस प्रकार तत्त्वविद्या (आइडियॉलाजी) ही मूर्तिविद्या (आइकनोग्राफी) का आधार होती है। जिस प्रकार भरहुत और सांची के स्तूपों में भगवान् बुद्ध के रूपकाय का पूतिकाय के रूप में अभ्युपगम के कारण प्रतिमा-लेखन के बिना ही औपाधिक सङ्केतों से निर्देश प्रस्तुत है, और बाद में प्रतिष्ठित अनास्रव रूप, निर्माणकाय आदि तत्त्वों में सम्यक्सम्बुद्ध के लक्षण से संयुक्त ध्यानयोग्य प्रतिमा द्वारा निर्देश किया गया है; अथवा जिस प्रकार जगत् के मूलस्तम्भ स्वरूप ज्योतिर्मय भगवान् शिव का लिङ्ग रूप में निर्देश किया गया, आगमों में प्रसिद्ध देवाख्यान भी उसी प्रकार बुद्धि के द्वारा आलोचनीय होकर भी सङ्केत की सहायता से शिल्प की परम्परा में निरूपित किये जाते हैं। कालान्तर में शिल्प-परम्परा में सिद्ध रूप प्राकृतजनों द्वारा, संस्कारवश उपासना के अभाव में भी प्रकृतिसिद्ध रूप के समान देखे गये। और तब, लोकचरित के आलेखन की

भाँति, शिल्पियों द्वारा स्वच्छन्द कल्पना से शास्त्र के अविरोध में भी, रञ्जन के निमित्त, नयनमनोहर रूप निर्मित हुए। परवर्ती शिल्प सम्प्रदाय में तो वही काल्पनिक आलङ्कारिक रूप शास्त्रीय निर्देशों में संगृहीत हुए। लोक ने भी क्रम से शिल्पियों द्वारा निर्मित रूपों को मनोरञ्जक इन्द्रियाभास के रूप में मुख्यतया ग्रहण किया। उसी प्रकार आधुनिक समीक्षकों ने भी। इसी प्रकार, बहुत से नये कलाविद् लोग यक्षी-प्रतिमाओं को देवप्रतिमाओं से रम्यतर मानते हैं। उसी प्रकार पाश्चात्य-परम्परा में लौकिक रूपों के यथादृष्ट निरूपण बहुमत हैं। प्राचीन युग में, वहाँ सामान्यलक्षणप्रधान, जातीय स्वरूप का अनुसरण करने वाला निर्दोष निरूपण शिल्पियों का अभीष्ट था; किन्तु आधुनिक युग में स्वलक्षणप्रधान व्यक्ति-चरित्र के निरूपण को विद्वानों ने 'शिल्पादर्श' कह कर व्याख्या की है। दोनों स्थितियों में रूप स्वभाव का प्रत्यक्ष दर्शन कराने वाला ही माना जाता है। लौकिक अर्थ के विषय में अनवद्य ही यह प्रवृत्ति सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। तथापि देवता आदि अलौकिक पदार्थ के विषय में, प्राचीनकाल में वह प्रवृत्ति आदरणीय नहीं थी; क्योंकि वहाँ दृश्य की अपेक्षा संकेत का ही प्राधान्य था। उसकी दृष्टि से इन्द्रियों को लुभाने वाला रूप हेय पक्ष में ही रखा जाता था। उसके विपरीत परमव्योम में स्थित शाश्वत धर्म का प्रतीकात्मक रूप ही कर्मानुष्ठान के विधान से विहित होता है। जैसे आदि में देवताओं ने किया उसी प्रकार ऋत-सूत्र के अनुसरण द्वारा मनुष्यों को भी करना चाहिए। अदृष्टफल वाले, आगम-विहित कर्मो का अनुष्ठान होता है, न कि दृष्टफल वाले (कर्म) वहाँ प्रयोजनीय हैं। और विधि-वितान व्यवस्थित होने के कारण रूप है, ऐसा कहा जा सकता है। इस प्रकार, देवशिल्पों में भी रूप इन्द्रियसन्तर्पणार्थ नहीं, अपितु उपासना-सङ्केत के ग्रहण के लिए है। जो रूप इन्द्रियों को मोहित करता है वह मायिक ही है। माया के परवश पुरुष रूप-सृष्टि को देखता हुआ, अदृश्य स्रष्टा को ही भूल जाता है। यथार्थ शिल्प विद्याविभागीय है, न कि अविद्याविभागीय; क्योंकि वह प्राकृत रूप का अनुविधान नहीं है, क्योंकि वह आत्मकृति ही है। "आत्मकृति ही शिल्प है," इसका आधार प्रमाण-विज्ञान है, न कि रूपानुकृति।

वैदिक युग के बाद के जनपद-काल में 'रूप' शब्द का प्रयोग नाना अर्थों में रूढ़ हो गया। परिणामी विषय रूप से दूसरे रूप को प्राप्त होते हुए लक्षित होते हैं, जैसे शब्द भिन्न-भिन्न प्रयोगों में नाना रूप धारण करता रहता है। इसीलिए पाणिनि ने शब्दों के रूप के भेदों का निरूपण किया और

सूचित किया- 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' इस सूत्र में। नाट्य-सम्प्रदाय में, रूपक आदि में रूप नाट्य का प्रकार है, जहाँ अर्थ आरोप द्वारा दिखाया जाता है। रजत आदि में, आहत करके लक्षण के आरोप होने से रूप्यक आदि (शब्दों से) अभिधेय मुद्राएं होती हैं। नाना कार्यों में और नाना अवस्थाओं में पदार्थ नाना प्रकार के लक्षित होते हैं। और वही सापेक्ष लक्षण 'रूप' अवधारण किया जा सकता है। रूप का यह लक्षणात्मक अवधारण प्राचीन बौद्ध दार्शनिकों ने जिस प्रकार परिष्कृत किया है, उसका पहले ही व्याख्यान किया जा चुका है।

श्रेण्य युग में, शिल्प, नाट्य आदि द्वारा रूप-निर्माण और रूप-प्रदर्शन का प्राधान्य लक्षित होता है। और, यहाँ रूप की प्रस्तुति दो प्रकार से लक्षित होती है, ध्यान के आलम्बन रूप से तथा मनोरञ्जक रूप से। मथुरा आदि में उपलब्ध्र यक्षादि की प्रतिमाओं में रञ्जक पक्ष, और बुद्ध की प्रतिमाओं में ध्यानोपयोगी पक्ष स्पष्ट दिखाई देता है। दोनों प्रकार का यहाँ रूप, प्रतिबिम्ब अथवा प्रतिमा स्वप्रतीति द्वारा निगूढ अर्थ का व्यञ्जक है। रक्ति-प्रवणा और भक्ति-प्रवणा, यह द्विविध व्यञ्जकता समन्वित होने पर भी इस युग की विशिष्ट कृतियों में लक्षित होती है। अजन्ता के चित्र इस अन्वय का अनुसरण करते हैं, जिनमें दृष्ट-अदृष्ट का, लौकिक-अलौकिक का, प्रवृत्ति-निवृत्ति का विरोध हट जाता है। इस समन्वय-वृत्ति को 'सामरस्यपरक परावृत्ति' कहा जा सकता है। शिल्प और काव्य के संसार ने त्रैलोक्य की अनुकृति द्वारा विश्वरूपता का निदर्शन करते हुए, तथा लोकोत्तर अर्थ को भी व्यञ्जित करते हुए, आस्वाद्यता और ध्यानाराध्यता को ही समन्वित रूप से निरूपित किया है। इस युग में (उस संसार ने) नृत्य, अभिनय, चित्रालेखन, मूर्ति-विधान, नादसाधना और शब्दसाधना द्वारा रूपों की सृष्टि करते हुए सुवर्ण-वर्षा की भाँति रस का सिञ्चन किया।

श्रेण्ययुग के प्रतिनिधि रूप में, कविकुलगुरु कालिदास की समीक्षा करनी चाहिए। श्रीमद् अरविन्द महर्षि ने कहा है- कालिदास भारतीय सौन्दर्य-बुद्धि के सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि हैं। उन्होंने सौन्दर्य-बुद्धि का, धर्मबुद्धि और तत्त्वबुद्धि से विवेक किया है। व्यास तथा वाल्मीकि का क्रमशः तत्त्वबुद्धि और धर्मबुद्धि के प्रतिनिधि कवि के रूप में प्रतिपादन किया है। किन्तु वस्तुतः मानवीय पर्येषणा के मौलिक अभेद के कारण, कालिदास में,

तत्त्व, धर्म और सौन्दर्य, ये तीनों बुद्धियाँ परस्पर उपरक्त (एक-दूसरे में मिली-जुली) और समन्वित लक्षित होती हैं। सौन्दर्य की विवक्षा से कवि ने रम्यत्व और रूप, दोनों का प्रयोग किया है। जैसे,

''सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।।''

यहाँ आकृति विशेष्य रूप से कही गयी है और विशेषण रम्य, मनोज्ञ और मधुर इन शब्दों से कहे गये हैं। 'लक्ष्मी' शब्द भी यहाँ सौन्दर्य का अभिधान करता है। और, सौन्दर्य का निसर्गसिद्धत्व और दोष-सहिष्णुत्व, दोनों यहाँ विवक्षित हैं। अमर सिंह का कथन यहाँ स्मरणीय है-

सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम्।
कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मञ्जु मञ्जुलम्।।

"प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता" ऐसा कहते हुए महाकवि प्रियजनों के प्रीतिजनकत्व को ही चारुत्व का लक्षण कहते हैं। सहज भी चारुता सब की प्रीति उत्पन्न नहीं करती, प्रिय की (प्रीति) उत्पन्न करती हुई ही (वह) सफल होती है। यहाँ चारुत्व की अपेक्षा प्रियत्व को उत्तम गुण माना है। अमर सिंह ने भी प्रियत्व को चारुत्व से (अधिक) विवेचित किया है- "अभीष्टेऽभीप्सितं हृद्यं दयितं वल्लभं प्रियम्', यह कहते हुए। रूपमात्र से उत्पन्न प्रीति तात्कालिक सुख ही है, उससे (प्रीति से) उत्पन्न काम भी अनित्य ही है। वह (काम) प्रेम अथवा प्रियत्व से अभिन्न नहीं है। "प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः" ये प्रेम के नाम 'काम' के नामों से भिन्न रूप में परिगणित हैं-"अथ दोहदम्। इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृड् वाञ्छा लिप्सा मनोरथः।। कामोऽभिलाषस्तर्षश्च।" महाकवि ने 'कुमारसम्भव' में काम और प्रेम का भेद रति-दहन के प्रसङ्ग द्वारा स्पष्ट कर दिया है। भवभूति ने तो 'बाह्य रूप को अनित्य उपाधि' रूप में ही वर्णित किया है- "व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुर्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते" यह कहते हुए। कालिदास ने रूप को कामात्मक रूप का आलम्बन और उद्दीपन बताते हुए तात्कालिकी प्रीति अथवा अनित्य काम को बहुमान नहीं दिया है। उसे प्रमाद के कारण के रूप में भी निदर्शित किया है। शप्त होता हुआ सा

यह प्रमाद जैसा मेघदूत और शाकुन्तल में दिखाया गया है। कामरूप मेघ कविकल्पना की भाँति सर्वत्र प्रकृति में सौन्दर्य की अनुभूति करता है, कान्ता की भाँति आचरण करती प्रकृति का कोई रूप-विशेष अपनी रमणीयता से रसिक मेघ को भी अपनी आसक्ति रूपी काराबन्धन में सर्वथा पकड़ने में समर्थ नहीं होता, जैसा कि कहा है- "कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु"। वहाँ भी कवि ने गम्भीर रहस्य को सूचित किया है- "क्योंकि चेतन-अचेतन के परस्पर अध्यास से ही काम प्रवृत्त होता है।" आदि में तो सत् की इच्छा के रूप में काम लोक-सृष्टि के हेतु स्वरूप मन के बीज रूप में प्रसिद्ध है, उससे प्रेरित होकर रूपलोक की सृष्टि करते हुए स्रष्टा अपने एकाकीपन का अतिक्रमण करते हैं, और पुनः सृष्टि में मनोभव रूप काम का आविर्भाव प्राणियों के पार्थक्य को दूर करता हुआ उन्हें जोड़ता है और अपने मालिन्य के कारण उनको संताप भी देता है। और (वही काम) विषयासक्ति रूप मल से विशोधित हुआ, चिर विरह से उत्पन्न ताप से विमुक्त, प्रेमराशीभूत दिव्य काम को आविर्भूत करता है। प्राकृत काम अध्यास-मूलक तथा विषयासक्ति के बन्धन रूप में दिखाई पड़ता है, प्रमादी यक्ष में मानो गगन से दूर तक विषय का सौन्दर्य देखती हुई कविकल्पना मेघ बनी लक्षित होती है। कामशुद्धि से प्रेम का आविर्भाव कुमारसम्भव और शाकुन्तल दोनों में निदर्शित है।

महाकवि कालिदास निवृत्ति-मार्ग के प्रति आग्रह के कारण काम का तिरस्कार नहीं करते हैं; क्योंकि धर्म का अविरोधी काम भगवान् की विभूति ही है। और, इस प्रकार रूप का काम-हेतु होना व्यभिचारी होने तथा प्रमाद का हेतु होने में दोष है, अभिलाष और प्रीति के जनक होने में नहीं। सौन्दर्य का आस्वादन दिव्य विभूति का साक्षात्कार ही है, उससे प्रमादग्रस्त नहीं होना चाहिए। जैसा कि महाकवि ने कहा है : "यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद् वचः"। "हे पार्वती, यह जो कहा जाता है कि रूप पापवृत्ति के लिए नहीं होता, वह (वचन) व्यभिचरित होने वाला (अर्थात् मिथ्या) नहीं है।"

इस प्रकार सौन्दर्य सहज प्रीति और अभिलाष का जनक है। अल्पविवेक अभिलाष भी समय से विवेक के उदित होने पर इष्टवस्तु के प्रति बढ़े रस वाली प्रेम की राशि में परिणत हो जाता है। और उसी प्रकार परिवर्तमान भाव के अनुरूप भिन्न दृष्टि से सौन्दर्य भी संलक्षित होता है।

सकाम मन द्वारा प्रत्यक्षीकृत शकुन्तला का रूप इस प्रकार वर्णित होता है- " चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा, रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु" यहाँ चित्रोपम रूप सम्यक् वर्ण, संस्थान, प्रमाण के सन्निवेश से सम्पन्न है, यहाँ चित्र के बाह्य उपादान तिरस्कृत हैं, मात्र सौन्दर्य के उपादान द्वारा इसके रूप की सृष्टि हुई है। और, वह (रूप) भोग्य रूप से अनास्वादित-रस के रूप में सम्भावित हुआ है। कालान्तर में विशेष रूप से विस्मृत भी वह (रूप) सामान्य रूप से अनुभूत रम्य विषय के सम्बन्ध में चित्त को पर्युत्सुक करता है। रम्यत्व की प्रतीति का यह सामान्य रूप है कि-

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।।

रम्यत्व की प्रतीति से, संस्कार रूप स्थित किञ्चित् आन्दोलित भाव के प्रभाव से चित्त प्रत्यक्ष उपस्थित सुख-दुःख के भोग से दूर जैसा अव्यक्त रूप से भासमान कुछ (अनिर्वचनीय) को ध्यान सा, याद सा करता है। यही रम्यत्व की सामान्य रूप से प्रतीति है, जहाँ मन को रमाता हुआ विषय अव्यक्त, अस्फुट भाव को स्मृति की भाँति उद्दीप्त करता है। जहाँ आकृति-विशेष में रम्यत्व की प्रतीति होती है वहाँ अपने मन में कल्पित रूप आस्वादनीय सा लक्षित होता है। और, वह रम्यत्व-विशेष की प्रतीति अव्यक्त विशेष रूप से उद्दीप्त होकर निगूढार्थसङ्केत की भाँति विषय को कहती है, और तब भावस्निग्ध स्मृति-चित्र की भाँति विषय को प्रतिभासित करती है। जैसा कि कहा है-

"दर्शनसुखमनुभवतः साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता।।"

इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार में सौन्दर्य-बुद्धि अवतरित होती है। और प्रथम दृष्टि में, सामान्य रूप से विषय के प्रत्यक्ष होने पर अस्फुट भाव का अभिव्यञ्जकत्व ही रम्यत्व है। आकार-विशेष रूप से विषय के प्रत्यक्ष होने पर रम्यत्व चित्र जैसा प्रतीत होता है। और उसके भावना या ध्यान का विषय होने पर स्फुटभाव का व्यञ्जकत्व ही रम्यत्व प्रतीत होता है। सौन्दर्य का लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित किया जा सकता है- भावनीय चित्र जैसी

आकृति वाला होना। उसकी (सौन्दर्य लक्षण की) व्यप्ति प्राकृत दृश्यों, स्त्री-पुरुषों और काव्य, कला आदि में देखी जा सकती है। क्योंकि सौन्दर्य काञ्चन-पद्म जैसा है, जहाँ रूप भाव का व्यञ्जक होने से सारवान् है। और, बहुत प्रकार का होने पर भी रूप, अन्ततः 'आत्मविनिर्भास' (आत्मा का विशेष रूप से निर्भास) ही है। रूपमात्र प्रत्यक्ष शैवी तनु ही है। इसलिए कहा है- "प्रत्यक्षाभिस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः" वैदिक और आगमिक सम्प्रदाय में, देव (ईश्वर) की विश्व-रूप से अभिव्यक्ति प्रसिद्ध है। श्रमण धर्म के प्रभाव से वहाँ हेयत्व की कल्पना प्रचार प्राप्त कर गयी। और, अनात्मीय सौन्दर्य 'मार का पाश' ही है, ऐसा संशय भी समर्थित हुआ। किन्तु कालिदास द्वारा दिव्य-मिथुन स्वरूपभूत प्रेम ही सर्वोत्कृष्ट रूप से प्रतिपादित हुआ। और उसके वर्णन द्वारा ही उन्होंने अपनी काव्य-यात्रा को गन्तव्य तक पहुँचा दिया।

इस युग में, शास्त्रीय सम्प्रदाय, मुख्य रूप से नाट्यशास्त्र और विष्णुधर्मोत्तरपुराण में देखा जा सकता है। इन दोनों ही शास्त्रों में नाना काव्यकलादि प्रभेद स्वभावान्वय के साथ संयोजित करके प्रदर्शित हैं। और उनका अन्तःसम्बन्ध रचना-प्रवृत्तिमूलक और रचयिता- सम्बन्धमूलक है। कला, मात्रा आदि के कालमानों की योजनाओं पर ताल, लय और छन्द प्रतिष्ठित हैं। और, उनसे गत्यात्मक नृत्त नियमित होता है; वही भावाभिनय से मिलकर नृत्य की प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। नृत्य की मुद्रायें, भंगियां रूप का विन्यास चाहने वाले शिल्पियों के प्रतिमान बनाती हैं। शिल्प में अर्पित होकर नृत्य ही स्थिर मूर्तिमान हो जाता है और नृत्य में अर्पित होने पर शिल्प ही हो जाता है। दोनों एक-दूसरे की प्रतिमा जैसे होकर स्पर्धा करते हैं। कहते हैं, स्वर-पद से युक्त ताल से संगीत बनता है, और पद-युक्त छन्द से काव्य। नाट्य में नृत्य, संगीत और काव्य ये तीनों, समवेत होते हैं। और फिर, काव्य गर्भीकृत नाट्य जैसा है, और नाट्य प्रबन्धायमान काव्य जैसा कल्पित किया गया है। और, रूप-सृष्टि में, निखिल कलाओं में विज्ञान के अनुशासन की स्वच्छन्द कल्पना के साथ समन्वित प्रवृत्ति, संवित् की उल्लासमयता से आत्मपरामर्श रूप रचना प्राण के छन्द की भाँति व्याप्त है। उस समय प्रतिभा के केन्द्र से निर्भासित जैसी रश्मियों ने रूपमण्डल की भाँति कला-संसार का विस्तार किया। रूप, लक्षण और प्रमाण, और भाव, रस आदि पदार्थ निकष जैसे थे। इतिहास, पुराण, आगम

आदि से समुद्धृत विषय कक्ष्याविभाग जैसे थे। नाना राजसभाओं में विचरण करते हुए कवि, सूत्रधार, रूपकार और श्रेणियों में व्यवस्थित उनके गणों ने अलग-अलग कारुओं की भाँति प्रतिभा-विज्ञान के सूत्रधार से प्रयोजित और नियत होकर उस युग के कला-प्रासाद का निर्माण किया। देवायतनों, श्रेष्ठियों के सौधों, राज-प्रासादों और भिक्षु-विहारों ने कला-श्री को प्रकाशित किया और कलाकारों का संरक्षण तथा पोषण किया।

विभिन्न कला-शास्त्रों में दार्शनिक विवेचन के गौण होने पर भी उसके लिए अपेक्षित उद्देश्य-विभाग और लक्षण सप्रमाण निरूपित दिखाई देते हैं। वे यथास्थित विषय-वर्णनात्मक हैं, फिर भी उनमें सत् और असत् के विवेचन के लिए अपेक्षित कसौटियां (मान) प्रस्तुत की जाती हैं। और तब अन्तर्निगूढ़ अनिर्वचनीय विवेक ही प्रकाशित होता है। जैसे संगीत में, चिर काल से साम-पारायण का युग अतीत होने पर, और गान्धर्व (संगीत) के अप्रचलित हो जाने पर नाट्य की सफलता के लिए और सामाजिकों के रञ्जन के लिए ध्रुवाराग आदि के गान की प्रवृत्ति बढ़ी, अदृष्ट अप्रधान हो गया, और, रक्ति प्रधान हो गई, अवधान विस्मृत जैसा हो गया, पदों में लौकिक गेय वस्तु ली गयी, गान्धार ग्राम समाप्त हो गया, ताल-विधान सरल कर दिया गया। यद्यपि श्रुति, स्वर आदि का भाव, रस आदि की व्यञ्जकता जाति-गान में भी प्रसिद्ध है, तथापि ध्रुवारागादि में बढ़ी उसकी महिमा ने संगीत में भी रसवाद की व्याप्ति को पुष्ट किया।

यहाँ शंका होती है कि संगीत में विभाव आदि के अभाव के कारण, पद-प्रयोग के भी अनावश्यक होने के कारण वहाँ रस की उत्पत्ति की बात कैसे बनेगी ? ऐसी स्थिति में, सुनें, नादात्मक संगीत का सम्यग् ग्रहण श्रोत्र के द्वार से मन द्वारा तब होता है जब वह (मन) स्पन्दन-विशेष से लक्षित ध्वनि के वैशिष्ट्य का ग्रहण करने वाला तथा संस्कार-विशेष से अवश्यमेव वासित होता है। उस प्रकार स्वरयोजनात्मक नाद के गृहीत होने तथा तन्मयीभूत चित्त के कल्पनारूढ होने पर स्वर, ताल आदि अनादि वासना से ही संवित्स्पन्दन के आलम्बन अव्यक्त भावों को प्रकाशित करते हैं। हृदय-सत्त्व ही स्पन्दन-विशेष से संस्पृष्ट होकर तप्त और द्रवीभूत होता है तथा ऐसे भाव-विग्रह को धारण सा करता है जिसमें विशेष अनवधारित रहता है। यहाँ स्वर, ताल और लय उद्दीपन हैं, चित्त-स्पन्दन में प्रतिबिम्बित

आत्मचैतन्य ही आलम्बन है और चित्तवृत्ति ही भाव है। किसी स्वरयोजना से चित्त द्रवित होता है, किसी (स्वरयोजना) से दीप्ति का अनुभव करता है, किसी से जैसे नाचता है, किसी से जैसे अवसाद सा अनुभव करता है। द्रुत लय से चित्त जैसे दौड़ता है, विवादी स्वर से जैसे क्षुब्ध होता है। और यह कहा गया है कि हास्य तथा शृङ्गार में मध्यम और पञ्चम का, वीर, रौद्र अद्भुत में षड्ज और ऋषभ, करुण में गांधार तथा निषाद का, बीभत्स और भयानक में धैवत स्वर का प्रयोग करना चाहिए। और उसी प्रकार, द्रुत, विलम्बित और मध्य लयों का रसों में उपपादन करना चाहिये, उनमें, हास्य और शृङ्गार में मध्य लय, करुण में विलम्बित, और वीर, रौद्र, अद्भुत तथा भयानक रसों में (द्रुत)।*

इस प्रकार संगीत में तीन पक्षों का विवेचन किया जा सकता है। प्रथम (पक्ष) है अविकल्पित, अविचारित होकर रञ्जन करने वाला श्रुतिसंवेद्य विषय, प्राकृत जनों के लिए भी प्रीतिकर है। वहाँ भी चार गुण, जैसे तारत्व-मन्द्रत्व, द्रुतत्व-मन्दत्व, अल्पत्व-बहुत्व, कण्ठ-वैशिष्ट्य रूप चार गुण लक्षित होते हैं जिनका सम्यग् विवेचन शिक्षित लोग ही कर पाते हैं। ये सभी न्यूनाधिक रूप से अविचारित सुख के कारण हैं। किन्तु द्वितीय पक्ष बुद्धि द्वारा ग्राह्य स्वरादि रचना-विशेष रूप है, जिसका अंग गणितीय तत्त्व है। किन्तु तृतीय पक्ष उनकी ही वासना की अपेक्षा वाली मर्मस्पर्शिता अथवा अव्यक्तभाव की व्यञ्जकता है। पहली सहजश्रुति की सुभगता सर्वत्र ग्राह्य होती है, किन्तु उससे ही संगीत का उत्कर्ष सम्पन्न नहीं होता। दूसरा पक्ष जो गणित आदि में निपुणता की अपेक्षा करने वाला, स्वर, ताल आदि विज्ञान रूप है, पाश्चात्य संगीत-सम्प्रदाय में विशेष समादृत है। तीसरा व्यञ्जकता-पक्ष है जो भारतीय परम्परा में बहुत मान्य है। उपासना के सन्दर्भ में संगीत द्वारा भक्ति का उद्बोधन, ध्यान में चित्त का प्रशमन, नाट्योत्सव आदि में रञ्जकत्व और व्यञ्जकत्व लक्ष्य होते हैं। संगीत के नानाविध होने पर भी उसका उत्कर्ष उसके जानकारों द्वारा सात्त्विक सुख की सघन भावसमाधि-प्रवण सविमर्श अन्तर्मुख आस्वाद की एकतानता के

---

* द्र० प्रेमलता शर्मा, रससिद्धान्त (१९८८), पृ० ४९-५१

अनुसन्धान में प्राय: स्वीकृत है। और, इस संगीत के साधन में, पाश्चात्य संगीत से अलग हटकर, ताल-वैचित्र्य से संयुक्त स्वरानुपूर्वी के रहस्य ही विशेष रूप से गवेषित हुए हैं।

किन्तु यह समझना चाहिए कि संगीत में उपलब्ध रूप की विलक्षणता उसके कालिक होने के कारण ही नियत है और उसका अनुभव तल्लीन चित्त द्वारा स्वगत रूप से भावाभिन्नता से किया जाता है।*

नृत्य में भी, छन्दोमयी गतिमत्ता के कारण, अंशत: संगीत के समान रूपानुभूति होती है न कि वहाँ नाद की सहज अन्तर्मुखता अथवा समाधिप्रवणता होती है; क्योंकि उसमें बाह्य रूपाभासों का ही प्राधान्य होता है। संगीत में कालिक आत्म-प्रतीति से आन्तर रूप व्यञ्जित होता है, नृत्य में प्राणच्छन्दस से।

उन दोनों (संगीत और नृत्य) में रूपाभास काल-गति और विषयी चेतनाओं की प्रतीतियों से अविवेच्य होने के कारण तन्मयीभूत लक्षित होता है। काल-गति विषयी चेतन इस प्रकार आकारित है इसका पृथक् निर्णय करना कठिन है। तथापि विषयिताकार ही यह अन्तत: स्वसमवेतकालगति का आकार है, ऐसा ही कहना ठीक होगा।**

शिल्प शास्त्रों के विचार करने वालों के यहाँ चित्रकला के छ: अङ्ग प्रसिद्ध हैं, जैसा कि यशोधर ने उद्धृत किया है-

रूपभेदा: प्रमाणानि भाव-लावण्य-योजनम् ।
सादृश्यं वर्णिकाभङ्ग इति चित्रं षडङ्गकम्।।

रूप के भेद, प्रमाण, भावयोजन, लावण्य-योजन, सादृश्य और वर्णिकाभङ्ग- ये चित्र के छ: अंग हैं ।

चित्रकारों में मूर्द्धन्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर महोदय ने इन अङ्गों का जो विवरण प्रस्तुत किया है वह विद्वानों को सुविदित ही है। अत: उसे यहाँ

---

* तु० सुसन लैंगर, फॉर्म एण्ड फीलिंग (रूटलेज, १९७६), पृ० २९ प्र०

** तु०पू० वहीं।

विस्तार नहीं दिया जा रहा है। चित्र, रूप से आरम्भ करके लावण्य में परिसमाप्त होता है। चित्रकार नाना विषयों में स्वलक्षण तथा सामान्य लक्षण से युक्त आकार-विशेषों वाले रूपभेदों को देखता है। असंख्य होने पर भी उनके विषय के निर्धारण द्वारा रूप-भेद भी निर्धारित होते हैं। प्रसिद्ध जातीय रूप ही यहाँ अभिमत हैं ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों की आकृतियों के भी चित्र के विषय के रूप में स्वीकार किये जाने की प्रसिद्धि है। अथवा, सादृश्य का पृथक् अंग के रूप में होने के कारण रूपभेद से विषय-स्वभाव के संकेत रूप में प्रत्यक्षाभास ही ग्राह्य हैं। जिस प्रकार ध्यायी (व्यक्ति) बाह्य स्थूल को निमित्त रूप में ग्रहण कर उससे प्रतिभागनिमित्त और उद्ग्रहनिमित्त को ग्रहण करता हुआ परिशुद्ध मनोमय भास्वर बिम्ब को देखता है उसी प्रकार चित्रकार भी विषयाभास को देखकर वहाँ ध्यान से, वस्तु-स्वभाव के संकेत से विद्ध विलक्षण रूप को उपलब्ध करता है। जैसा कि आचार्य अवनीन्द्रनाथ कहते हैं, केवल मात्र चक्षु से ही नहीं, अपितु मन से रूप-भेद गृहीत होता है। वे शान्तिपर्व से उद्धरण देते हैं :-

ज्योतिः पश्यन्ति रूपाणि रूपं च बहुधा स्मृतम्।
ह्रस्वो दीर्घस्तथा स्थूलश्चतुरस्त्रोऽनुवृत्तवान्।।
शुक्लः कृष्णस्तथा रक्तः पीतो नीलोऽरुणस्तथा।
कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छिलो मृदुदारुणः।।

ज्योति ही विविध आकार वाले रूप-भेद को फैलाती है। वहाँ निहित तत्त्व को चक्षु द्वारा ही सम्यक् रूप से नहीं समझते हैं। उसके लिए मनको निहित तत्त्व-दर्शन के लिए भी प्रबुद्ध होना चाहिए। अन्तःकरण की ज्योति से ही वस्तु का यथार्थ्य गृहीत होता है। चाक्षुष आभास वहाँ निमित्त ही है। रूपभेद न केवल दृष्टाभास हैं, अपितु पुरःस्थित मानसबिम्ब बुद्धिप्रभेद हैं, जैसा कि कहा गया है-

''व्यञ्जको वा यथालोको व्यङ्ग्स्याकारतामियात्।
सर्वार्थव्यञ्जकत्वाद् धीरर्थाकारा प्रदृश्यते।।''

जैसे व्यञ्जक आलोक व्यङ्ग्य की आकारता प्राप्त करता है, (उसी प्रकार) सभी अर्थों के व्यञ्जक होने के कारण बुद्धि अर्थाकार दिखाई देती है।

और, इस प्रकार चित्रणीय रूप का निर्णय चित्रकार के अन्तःकरण में स्थित प्रतिभान से ही होता है, न कि बाह्य निमित्त मात्र से। यह भी समझना चाहिए कि रूप प्रत्यक्ष होता है, न कि (उसका) भेद प्रत्यक्ष किया जा सकता है; क्योंकि वह बुद्धि द्वारा ही परिच्छेद्य होता है। असंख्य संसर्गों वाले विषय कैसे परिच्छेद्य (अवधारित) होंगे, क्योंकि अवधारण तो ज्ञान, प्रयोजन और रुचि की अपेक्षा रखता है। लोक में भयजनक भी सर्पाकार भगवान् शिव में अलंकार बन जाते हैं। सर्पाकार की तुल्यता रज्जु, माला वेणी आदि में लक्ष्यमाण होकर भी बुद्ध्धि-व्यवसाय के अनुकूल सङ्केतों से ही तत्तत् भेदों द्वारा व्यवस्थापित होती है। यहाँ पर ऐसा संशय किया जा सकता है कि व्यक्ति और जाति के भेद के स्वलक्षण और सामान्यलक्षण बाह्य वस्तुनिष्ठ होने के कारण उसी प्रकार प्रत्यक्ष होने से भ्रमातिरिक्त स्थल में रूप के निर्णय का अलग से कोई अवकाश नहीं है; किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं । निर्विकल्प प्रत्यक्ष में लक्षण के अनवधारण के कारण, और विकल्प के योजन में प्रयोजनीय विकल्प का उपादान बुद्धि के निर्णय के अधीन होता है; क्योंकि चन्द्र, समुद्र, वन आदि की भाँति नाना रूपों के, अथवा स्त्री-पुरुषों के व्यवहार से अभ्यस्त सामान्य रूप ही चित्रकार के लिए अपेक्षित रूपभेद को प्रकाशित नहीं करते हैं।

बाह्य वस्तुओं की दीर्घता आदि का परिमाण ही लोक में (निरपेक्षतया) 'प्रमाण' का विषय बनता है; किन्तु कलाओं में उसके (बाह्य वस्तु के) निर्धारण में कलाकार की हृदय-संवादी प्रमा की अनुसारिता ही है। प्रमाण से गणितशास्त्रीय अङ्गुल्यादि मान ही नहीं हैं, अपितु हमारा प्रमातृ चैतन्य है, जो भीतर-बाहर भी परिमिति का मूल है, जैसा कि कहा है-

> ''मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेति तत् ।
> मेयाभिसङ्गतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते।।''

प्रमाता के मान की निष्पत्ति मेयता का निष्पन्न रूप धारण करती है और वह मान मेय वस्तु से संगत होकर मेय की आभा वाला होता है।

भाव के विषय में कहा है- "निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथम-विक्रिया" निर्विकारात्मक चित्त में भाव प्रथम विकार है। और फिर, -

''शरीरेन्द्रियवर्गस्य विकाराणां विधायकाः।
भावा विभावजनिताश्चित्तवृत्तय ईरिताः।।''

शरीर और इन्द्रिय वर्ग के विकारों के कर्त्ता विभावजनित भाव ही 'चित्तवृत्ति' कहे गये हैं।

विषय-प्रत्यक्ष से विकार को प्राप्त चित्त स्वान्तरालम्बनसम्पुटित की भाँति विषय को भाव-चक्षु से देखता है, उसी प्रकार, निरूप्यमाण विषय भाव-व्यञ्जकता को प्राप्त होता है।

'लावण्य के विषय में वचन प्रसिद्ध ही है-

मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते।।

मुक्ताफलों (मोती) में भीतर छाया (कांति) की अन्तर्वर्ती तरलता-जैसा जो अङ्गों में प्रतीत होता है वह यहाँ लावण्य कहलाता है।

लावण्य अवयवी जैसा व्यञ्जित होता है, न कि वहाँ अवयव के विभाग द्वारा प्राप्त होने वाला अतिशय है। उससे भिन्न होने पर भी उसके अधिकांश धर्मों से युक्त होना 'सादृश्य' है। बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष सादृश्य सुविदित ही है, जैसे एक घट का दूसरे घट से। न कि उससे ही सादृश्य नामक अङ्ग ज्ञात होता है, जिसके विषय में कहा है- ''चित्र में सादृश्य का विधान ही प्रधान माना गया है।'' मनोभाव और बाह्यरूप का सादृश्य ही यहाँ मुख्य है, उसी से चित्र का विषय-सादृश्य व्यक्त होता है। बाह्यार्थ को उकेरता हुआ भी चित्र मनोभाव को प्रतिबिम्बित करता है। बाह्यार्थ की प्रतिरूपता और अभ्यन्तरार्थ की व्यञ्जकता, ये दोनों मिलकर सादृश्य को प्रतीत कराते हैं। कहा है-

''मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा।
रूपादीन् व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम्।।''

मूषा (साँचा) से सिक्त (ढाला हुआ) ताँबा जैसे उस जैसा हो जाता है, वैसे रूप आदि को व्याप्त करता हुआ चित्त निश्चित रूप से उस जैसा हो जाता है।

किन्तु यह समझना चाहिए कि ज्ञान की ओर अनुधावन से कठिन चित्त द्वारा बाह्यविषय तटस्थ रूप से ही आकारित किये जाते हैं। किन्तु द्रुत चित्त द्वारा गृहीत आकार स्वानुभूति से उपरक्त की भाँति पुनरुद्बुद्ध संस्कारवाले भावमय प्रतीत होते हैं। जैसा कि मधुसूदनसरस्वती ने कहा है-

''चित्तद्रव्यं हि जतुवत् स्वभावात्कठिनात्मकम्।
तापकैर्विविधैर्योगे द्रवत्वम्प्रतिपद्यते।।
कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयादयः ।
तापकाश्चित्तजतुनः तच्छान्तौ कठिनं तु तत् ।।
द्रुते चित्ते विनिक्षिप्तः स्वाकारो यस्तु वस्तुना।
संस्कारवासनाभावभावनाशब्दभागसौ ।।''

"लाख की भाँति चित्त-द्रव्य स्वभाव से कठिन स्वरूप का होता है, (किन्तु) विविध तापकों (तप्त करने वालों) के योग से द्रवत्व को प्राप्त करता है। चित्त रूपी लाख के तापक हैं- काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि। इन (तापकों) के शान्त होने पर वह (चित्त-जतु) कठिन हो जाता है। वस्तु द्वारा द्रवीभूत चित्त में जो वस्तुओं के द्वारा अपना आकार डाला जाता है उस (आकार) को संस्कार, वासना, भाव, भावना शब्दों से कहा जाता है।"

वर्णिकाभङ्ग भाव से प्रेरित, विषय के अनुरूप तूलिका-प्रयोग का वैविध्य ही है। नाना परम्पराओं में और चित्रकारों में विविध प्रकार की वर्ण-निर्माण की विधियां, प्रयोग-विधियां और तूलिका-प्रयोग की विधियाँ दिखाई देती हैं। प्राचीन भारतीय परम्परा में रेखा का ही प्राधान्य उस प्रकार प्रसिद्ध है-

''रेखां प्रशंसन्त्याचार्या वर्तनीं च विचक्षणाः।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः।।''

"आचार्यगण रेखा की प्रशंसा करते हैं और विचक्षण (चतुर, विद्वान्) लोग वर्तनी की, स्त्रियाँ अलंकरण चाहती हैं और सामान्य लोग वर्णाढ्य (=रंगों की बहार)।"

यह वचन परीक्षकों द्वारा सम्मत ही है। अजन्ता की गुफाओं के भित्ति-चित्रों में अविच्छिन्न-आयत, मानो लययुक्त रेखाएँ मनोहर लचीली भंगिमा वाली मसृण-भङ्ग-बन्धुर और समग्र आकार को ही एक बार में ही समक्ष उपस्थापित करती हुई और मनोभाव को व्यञ्जित करती हुईं विन्यास के वैलक्षण्य से सभी के मन को हर लेती हैं। चीन, पारसीक, मुग़ल की शैलियों में रेखाएं उनसे भिन्न प्रकार की होती हैं। आधुनिक पाश्चात्य चित्रों में तो वर्णविन्यास का ही और यथास्थित आकार के निरूपण का ही प्राधान्य है। प्राचीन भारतीय परम्परा में सहज अबाधगति वाली रेखाओं से मनोभाव का व्यञ्जन ही बहुत मान्य हुआ है, क्योंकि "चित्र को प्राणच्छन्द से स्पन्दित जैसा होना चाहिए" ऐसा चित्रसूत्रकारों ने कहा है।

'लसतीव च भूलम्बो बिभ्यतीव तथा नृप।
हसतीव च माधुर्यं सजीव इव दृश्यते।।
सश्वास इव यच्चित्रं तच्चित्रं शुभलक्षणम्।।'

(भूलम्ब विलसित होता हुआ सा, डरता हुआ सा, हँसता हुआ सा माधुर्य, सजीव सा दिखाई देता है। जो चित्र श्वास लेता हुआ सा है वह शुभ लक्षण वाला चित्र है।)

इस प्रकार श्रेण्य युग में, काव्य, चित्र और शिल्प में आपातरमणीय भी रूप प्रधानतया भावव्यञ्जक रूप से ही प्रशस्ति का भाजन हुआ है। उसके बाद के युगों में अन्यों ने प्रत्यक्ष रूप-सौष्ठव को ही बहुत मान्यता दी। अलङ्कार को ही सौन्दर्य मानते हुए (उन्होंने) उसके प्रचुर प्रयोग द्वारा काव्य और शिल्प में अद्भुत-अनन्य रूप-लोक की सृष्टि की। काव्य में, अभिधायक शब्दों में अथवा अभिधेय अर्थों में चमत्कारकारी वैचित्र्य ही अलङ्कार है। उसका मूल है शब्द-प्रयोगगत असाधारण्य, जो रुचि के अविरुद्ध और शब्दार्थसाम्य का अनतिशायी है। किन्तु शब्दार्थ-तुल्यता के भङ्ग होने पर बहुत से दोष आ जाते हैं, और सहृदय-सम्मति रूप रुचि ही प्रमाणों में मूर्धन्यतम है। फिर, असाधारण्य असंख्यविध होकर भी वक्रोक्ति, औपम्य, अतिशयोक्ति और श्लेष में प्रायः संग्राह्य है। सर्वत्र ही लोकाभ्यस्त प्रयोग को छोड़ता हुआ कवि सहृदय को अपूर्वताजन्य विस्मय और कौतुक द्वारा आकृष्ट करता है। शिल्प में भी निपुण शिल्पियों द्वारा प्रयुक्त अलङ्कार दर्शकों को मोहित करते हैं। किन्तु यह समझना चाहिए, प्रचुर अलङ्कार

वाले भी माघ, नैषध आदि काव्यों में, खर्जूरवाहक (खजुराहो), कोणार्क आदि देवायतनों में वह सौन्दर्य मुख्यतया अलङ्कार के कारण नहीं है।

इस प्रकार प्रतीक, लक्षण, प्रतिमा, अलङ्कार- इन चारों में जिसके तत्त्व का अन्वेषण किया गया है वही रूप पुनः विचारणीय है। इन सभी तत्त्वों में प्रत्यक्षाभास भी रूप अपने से अतिरिक्त अर्थ का व्यञ्जक लक्षित होता है। और, उसके दो पक्ष दिखाई देते हैं- आभास और संकेत। आभासगत अतिशय रम्यत्व वस्तुनिबन्धन है अथवा साङ्केतिकत्वनिबन्धन् यह विचार करते हुए (विचारकों को) पहले प्राचीन आलङ्कारिकों और नवीन रूपवादियों के पक्ष को विषय बनाना चाहिए । कवि शब्दों को, शिल्पी रञ्जक द्रव्यादि को लेकर ही अपनी कृति की रचना करता हुआ उपादानद्रव्य के विशिष्ट सन्निवेश का विधान करने में समर्थ होता है। इस प्रकार कवि अथवा शिल्पी द्वारा अपने उपादान में आहित अतिशय रचना-विशेष से अतिरिक्त नहीं होता। शब्द-रचना ही काव्य है, रंगने वाली तूलिका द्वारा विहित रूप ही चित्र है, पत्थर आदि के तरासने से निर्मित मूर्ति ही शिल्प है, कल्पनायोजित स्वरानुपूर्वी ही सङ्गीत है, इत्यादि कहा जा सकता है। सहृदय परीक्षक भी वहाँ कृति में रहने वाले प्रत्यक्ष-योग्य विशेषों को ही देखता है, उन्हीं का आस्वाद लेता है, और वर्णन करता है। उनके अतिरिक्त जो तत्त्व समालोचनपूर्वक प्रतिपादित होता है वह असद्विकल्पित ही है, यह रूपवादियों का मत है। और इस प्रकार काव्य में शब्द-प्रयोग के वैचित्र्य से, और रूप-कर्म में वर्ण, आकार और प्रमाणों के परस्पर संसर्ग के औचित्य से, आवृत्ति-निवृत्ति, भेद-अभेद, विरोध-अविरोध, सादृश्य, वैलक्षण्य, सम अनुपात, समन्वय आदि से लक्षित रचना के द्वारा सौन्दर्य व्याख्येय होता है। किन्तु बाह्य दृश्य में निसर्गतः ही सदृश गुण के प्राप्त होने से सौन्दर्य की प्रतीति होती है। किन्तु सर्वथा सुरचित आभास के रूप में जो रूपातिशय है वही सौन्दर्य है। और, कविवर रवीन्द्रनाथ ने भी इसी रूप-निश्चित तत्त्व को ' सुमिति ' कहा है।

आपातरमणीय भी यह आलोचनसह (क्षोदक्षम) नहीं है। क्योंकि रचनाकार अपने उपादान को अपने अभिप्राय से परिणामित करता हुआ उसमें अपने चित्त का सङ्केत भी निवेशित करता है। उसके संकेत को समझे विना उसकी रचना के अर्थ को नहीं समझा जा सकता। जैसे कोई लिपि के

अक्षरों को लिख दे, और पाठक वहाँ अभिज्ञ नहीं हो, कुटिल और फैली हुई रेखाओं को ही देखे, न कि अर्थव्यञ्जक साङ्केतिक आकारों को, इसी प्रकार काव्यों में और शिल्पकृतियों में, मानना चाहिए। वहाँ भी, रूप ऐन्द्रिय आभासमात्र नहीं है, अशिक्षित का भी गोचर है, क्योंकि रचना में निहित अर्थ का संकेत विद्यमान है। यहाँ शंका करते हैं कि नैसर्गिक दृश्यों में रचना के निरभिप्राय होने से रूप के अर्थ-सङ्केत का अभाव है, और उसके तुल्य होने से काव्य और शिल्प आदि में भी रूप निरपेक्ष है, ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि निर्दोष रचनामात्र में प्रयोजनीयता का आभास है। उसी प्रकार जड प्रकृति में भी विचित्र रचनावत्त्व के कारण लोक द्वारा पुरुषार्थत्व की कल्पना की जाती है। रेखा विभाग और दिशा को सूचित करती है, सादृश्य अथवा अनुपात सम्बन्ध को सूचित करते हैं, नियम अन्तःसम्बन्ध को प्रकाशित करता है, सूर्योदय जगाता है, अन्धकार अवसाद उत्पन्न करता है, पुष्प के वर्ण और गन्ध भ्रमर आदि को आकृष्ट करते हैं, स्त्री-रूप पुरुष को आकृष्ट करता है, आकाश और सागर आदि व्यक्त-अव्यक्त नाना भावों को उत्पन्न करते हैं। काव्य आदि में, कर्ता के ज्ञात न होने पर भी, साभिप्रायत्व का बोध स्पष्ट ही है, और वह अभिप्राय अभिधेयमात्र में अथवा इन्द्रियमात्र के गोचर रूप में विश्राम नहीं लेता। काव्य में अभिधेय अभिहित ही होता है, और उससे ही काव्यार्थ परिसमाप्त नहीं होता, क्योंकि अभिधान और अभिधेय में निहित विशेष के द्वारा अपने से अतिरिक्त का व्यञ्जन होता है। वर्णों की विच्छित्ति मात्र से जिसकी रचना समाप्त होती है ऐसे चित्र में भी वर्णाभास चैतन्य को मानों प्रेरित करते हैं। 'यह नील है' ऐसे अभिज्ञान से ही नील के सौन्दर्य का अभिज्ञान नहीं होता। चित्रकार और सहृदय द्वारा अभिज्ञेय विशेष ही सौन्दर्य-प्रतीति का हेतु संस्कार-सापेक्ष विमलकान्ति नील नभ को याद दिलाता है, चञ्चल हरित आभा से युक्त होकर (नील) महोदधि को, कृष्ण आभा वाला मसी को, कहीं कृष्ण, कहीं इन्द्रनील, कहीं सरोवर को (याद दिलाता है)। तरङ्ग के दीर्घता-विशेष से अङ्कित होकर रश्मियाँ दृष्टि में प्रतिफलित होकर नीलादि का आभास उत्पन्न करती हैं, नाना वर्ण, आकार आदि से संसृष्ट वर्ण अपूर्वरूपता को धारण करते हैं। प्रकृतिसिद्ध का संसर्ग-वैविध्य के कारण रूपान्तरण ही रचना है। उससे प्रकृति का अतिरिक्त ही अर्थ विहित होता है।

इसका अपूर्वत्व ही वहाँ व्यञ्जकता का विधान करता है। इस प्रकार रचनामूलक कृतिगत भी विशेष प्रकृत्यतीत सांकेतिक पौरुष अर्थ को व्यञ्जित करता है। बहुधा, विरुद्धों अथवा असम्बद्धों के समवधान से विरोध के परिहार के लिए अथवा समन्वय के लिए अभिप्राय का अन्वेषण किया जाता है। और अपूर्व अर्थ व्यक्त होता है, और वह (अपूर्व अर्थ) न तो लोक में स्थित है और न ही लोक में दृष्ट है। लोकप्रसिद्ध अर्थों के आकार तो लिपिचिह्नों की भाँति अपने चित्त के प्रकाशन के लिए प्रयुक्त होते हैं। ऐसा नहीं कह सकते कि चित्र, रूप, कलादि में लौकिक अर्थ का सादृश्य देखा ही जाता है, क्योंकि वह भी दृष्ट में आरोपित अदृष्ट अर्थ का प्रतिपादन करता है। जैसे, चीनी-लिपि में 'शङ्' इस प्रकार से वाच्य सङ्केत अधोरेखा के ऊपर ऊर्ध्व रेखा को प्रदर्शित करता हुआ आरोहरण द्योतित करता है। कवि सृष्टि करता है, यह प्रसिद्ध ही है और उस कारण काव्यार्थ का दृष्ट से भिन्नत्व और लोकोत्तरत्व सिद्ध होता है। वस्तु-सत् द्रव्य की सृष्टि में ईश्वर के अतिरिक्त के असामर्थ्य के कारण, मानव-कवि की सृष्टि मानसी ही हो सकती है, और वह सृष्टि सङ्केत-विद्ध अर्थ की उल्लेखि प्रत्ययमयी (हो सकती है)। सङ्केत के आकार ही बाहर दिखाये जा सकते हैं और वे काव्य में ध्वनि-विशेष हैं अथवा उसके चिह्न, चित्रों में वर्णाकार, सङ्गीत में स्वरादि। द्रव्यगुणात्मक होने के कारण, प्रकृति-सिद्ध भी ये विषय सङ्केतार्थ को स्वसामान्य आकार के रूप में ही प्रयुक्त करते हैं, और वे आकार मन के अपरोक्ष भी होते हैं। किन्तु परमार्थतः चित्त ही सङ्केतों की प्रसवभूमि है। शब्द के विषय में पश्यन्ती आदि और उनके भेद के निरूपण वाला शास्त्रीय मत प्रसिद्ध ही है। उसी प्रकार नाद भी चैतन्य से उत्पन्न है, रूप भी ज्योति का प्रभेद रूप चित्त-बिन्दु से ही उत्पन्न है। यहाँ स्वप्न ही निदर्शन है, जहाँ विचित्र अर्थ का सङ्केतायमान अपूर्वलोक चित्त से ही सृष्ट होता है। काव्य और कलाओं में रूप इस कारण चैतन्य का ही रूप है, न की बाह्य अर्थ का।

चैतन्य तो अरूप (रूपरहित) है, उसका रूप कैसे कल्पनीय होगा? ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं कि औपाधिक रूप ही ग्राह्य होता है। देहादि की उपाधि ग्रहण करके चेतन अपनी वासना के अनुसार नाम-रूप की उपाधियों से मनोमय रूपों की सृष्टि करता है, प्रतिभा, विवेक और निपुणता से संगत (चैतन्य के) वे ही रूप काव्यादि के रूप में परिणत होते हैं।

सोपाधिक चेतन ही आत्मा को परमार्थ रूप से खोजता हुआ विषयाकारों से कल्पित करता है, और उन्हें चेतनभाव का प्रतिबिम्ब ही माना जाना चाहिए। अतः काव्य, कला आदि में कीर्तनीय रूप न द्रव्य का सहज धर्म है, न ही कार्य-समर्थ के रूप में वहाँ उत्पादित है। रचनाकार के हृदय के साथ संवाद वाले प्रतिबिम्ब के सङ्केतीकृत रचना वाला होना ही वह धर्म है। प्रकृत का उपयोगी सङ्केत क्या है? प्रतिबिम्ब की कल्पना क्या है? हृदय-संवाद क्या है? ये तीन प्रश्न अब विचारणीय हैं।

इच्छाकृत सम्बन्ध से स्वज्ञान द्वारा विषयान्तर का व्यापक शक्तिमान् सङ्केत से अभिहित होता है। जिस प्रकार लिपिचिह्न वर्ण के, शब्द भी अर्थ के। व्याप्तिज्ञान के बल से ज्ञापक को लिङ्ग कहा जाता है, जैसे धूम अग्नि का। सादृश्य की ज्ञापिका प्रतिमा है, यह प्रसिद्ध है, जैसे चित्र चित्रित अर्थ का। जैसे कथञ्चित् स्वसंसृष्ट विषयान्तर के संस्कार के उद्बोधन से उसकी स्मृति का आपादक होना मुख्य व्यञ्जकत्व है, जैसे आँसुओं में शोक का। शुष्क ज्ञान के स्थलों में लिङ्ग-लिङ्गिभाव सामान्यतः होता है, क्योंकि उससे उत्पन्न ज्ञान सामान्य विषय का व्यावृत्यात्मक ज्ञान होता है। सादृश्य-विधान का रूप-चित्र-नाट्य में प्रयोग दिखाई देता है। सर्वत्र ही, काव्यों में, सङ्गीत में और चित्रादि में सङ्केत और व्यञ्जक का व्यापार संलक्षित होता है।

'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्' यह जो सादृश्य का लक्षण प्रसिद्ध है वह वास्तविक सादृश्य के विषय में है, न कि प्रातिभासिक (सादृश्य)के विषय में। काव्य, कला आदि में तो प्रतीयमान सादृश्य ही प्रकृत है, क्योंकि प्रतिभास के अनुसार ही वहाँ विषय निरूप्य होते हैं। मुख और चन्द्र में वास्तविक सादृश्य नहीं है, क्योंकि प्रतीति का विषय होने पर ही उन दोनों का सादृश्य है। प्रकृत विषयक चमत्कारी प्रतीति-विशेष के आलम्बन बने हुए धर्म का ही विभूततर प्रकाशन के लिए ही सादृश्य दिया जाता है। जैसे प्रकृत चन्द्र की शुभ्र कान्ति की राजहंस से तुलना करता हुआ कवि आह्लादक अपने मनोबिम्ब को भी स्फुट करता है, न कि वह बृहद् आकार वाले, प्रकाशरहित चन्द्र का वस्तु-वृत्त निरूपित करता है। काव्य अथवा कलाओं में भावालम्बन रूप से ही सादृश्य का उपयोग किया जाता है। इसलिए सादृश्य व्यञ्जक के अनुगुण रूप से ही रचनाकार का अभीष्ट होता है।

सङ्केत भी, जब तक, उनकी (संकेतों की) यादृच्छिकता अथवा पृथगरूपता स्फुट होती है, तब तक अर्थों के, परोक्ष रूप से ही विभावन में क्षम होते हैं। सङ्केत, प्रत्यय और अर्थों के भेद के विलीन हो जाने पर, अभ्यस्त शब्दादि की भाँति काव्यादि के अर्थ भावना से साक्षात्कारी प्रत्यय के अन्तर्गत प्रतीत होते हैं। चित्र, प्रतिमा आदि में, मूर्त आकार की सहायता से अमूर्त भी मूर्त की भाँति उपस्थापित होता है, विकल्पवाचक सङ्केतों से तो मूर्त भी व्यावृत्तिपुरस्सर योजनाओं से अमूर्त-सा प्रत्यायित होता है। विशेषण-विशेष्यावगाही उस प्रकार के निरूपण से, तर्कोपयोगी और व्यवहारोपयोगी तात्त्विक सम्बन्ध के नियम अवधारित होते हैं। सामान्य भाषा वाली सङ्केतव्यवस्था ही अनादिविकल्पवासित व्यवहार-बुद्धि वाले पुरुष की मूलभूत सङ्केतव्यवस्था है, जिसका आश्रय लेकर शास्त्रीय परिभाषाएं प्रवृत्त होती हैं। रूपादि में सादृश्य बोध के कारण, अथवा स्वरतालादि में प्रत्यक्षरूप सहज, स्वातिरिक्त प्रत्यायन की शक्ति अव्यक्त अर्थाभास में ही विश्राम लेती है। विशेष अवधारणा तो शब्दानुबेध और उसके व्यापक विकल्पन के बिना सम्भव नहीं होती है। अतः शब्द की शक्ति ही सभी सङ्केतों का मूल है, और सभी सङ्केत-व्यवस्थाएं भाषा-पुरस्सर हैं।

वस्तुचित्रात्मक भाषा का निरूपण करते हुए कुछ आधुनिकों ने रचना-सादृश्य को ही उसकी (भाषा की) शक्ति का मूल प्रतिपादित किया है।" प्रत्यक्षसंवेद्य धर्म नील को 'नील' नाम से अभिहित करते हैं, यह 'नील है' इस नाम-रचना से धर्म-रचना का अनुकरण किया जाता है। इस प्रकार पृथक् संवेद्य विशेषों में उनकी (विशेषों की) रचना से संघटित विश्व आविर्भूत होता है। और वह (विश्व) भाषा से भी, नामकरण और रचनानुकरण द्वारा चित्रित होता है। नामगोचर, संवेद्य-अन्त्यविशेष विशेषान्तरों द्वारा नियतसम्बन्धात्मक, ज्ञाननिरपेक्ष और सङ्केतनिरपेक्ष माना गया है। किन्तु यह समञ्जस प्रतीत नहीं होता, क्योंकि विशेष का नामकरण सम्भव नहीं, क्योंकि वह (विशेष) अनावर्ती होने के कारण दृष्ट-लुप्त हो जाता है। न ही उसके (विशेष के) सम्बन्ध यथादृष्ट रूप से निरूपणीय हैं, क्योंकि सम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं होता।* पदार्थ के, विशेष-विशेष्यावगाही

* आचार्य दिङ्नाग ने कहा है- ''सम्बन्ध इन्द्रिय से गृहीत नहीं होता।

ज्ञान के गोचर सामान्यविशेषात्मकत्व की कल्पना नहीं करनी चाहिए; क्योंकि उस प्रकार का पदार्थ कल्पनापेक्षी सांवृत (व्यावहारिक) का विषय होता है। शब्द का विषय, वस्तुनियत नहीं होता, क्योंकि अवस्तु भी वाच्य होती है। विषय अवधारणात्मक प्रत्यय का ही अभिधान करता हुआ शब्द प्रतिबिम्बपुरस्सर अपोह ही अर्थ युक्त होता है।[१६] इस प्रकार शब्द विकल्पव्यापारसहज है। सनिर्धारण विषय के दृश्यमान होने पर वृद्धजन प्रथमतः 'यह घट है' इत्यादि कोई सङ्केत नहीं करते; वहाँ सङ्केतकरण का प्रथम-उदय कल्पनीय नहीं है, क्योंकि वह (प्रथम-उदय) सङ्केत व्यापार के ज्ञान के पूर्व होगा। 'प्रत्यक्ष का विषय अप्रत्यक्ष विकल्प का ज्ञापक है,' इस बुद्धि के बिना सङ्केत नहीं किया जा सकता। बाह्यार्थ का विकल्पन और विकल्पित अर्थ का बहिःप्रकाशन, ये दोनों ही बुद्धि की सहज प्रवृत्तियाँ हैं; क्योंकि विमर्शात्मिका संवित् ही स्वान्तन्त्र्य रूप से अवधारित करती हुई अपने को अर्थ के रूप में सृष्ट करती है। और, सविकल्प के प्रतिबिम्ब रूप अर्थ जिस सूत्र से पुत्तलिकाओं की भाँति धृत हैं, वह चैतन्य ही है। और उसके (चैतन्य के)विषय-निर्धारण, उपस्थापन और प्रकाशन के साधनभूत सङ्केत प्रत्यक्ष चिह्न रूप विग्रह वाले हैं। जैसाकि जन्मना अन्ध-बधिर हैलेन कैलेर ने अपने चरिताख्यान में लिखवाया है– जब मैंने जल का स्पर्श किया उसके साथ मुझे स्पर्श्यमान-अक्षरों का आकार अनुभव हुआ। फिर मुझे उन दोनों प्रकार के स्पर्श-विषयों का वाच्य-वाचक सम्बन्ध विदित हुआ।' सङ्केत-विधान संवित् की सहज शक्ति के कारण है, यह 'चत्वारि वाक्' इत्यादि वेदसम्मत परा, पश्यन्ती आदि वाग्भेद के सिद्धान्त से भी समर्थित होता है।

सङ्केत के मूल में कल्पना होती है, कल्पना आत्मा की शक्ति है, परामर्शात्मिका चित् अपने से अपने आपको सृजित करती है।। २९।।

रूप रचना के आश्रित होता है, रचना अर्थ का गवेषण करती है, चित्ताभिप्राय ही अर्थ-सङ्केत का अनुवर्तन करता है।। ३०।।

पाद-टिप्पणियाँ

१. तु० कान्ट, पूर्व० पृ०५५ प्र.

२. तु० मेरी मूल्यमीमांसा, पृ०१९५-९६

३. रसगङ्गाधर (काव्यमाला), पृ०५-६; स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकता-संसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वम् ।

४. तु० अभिनवभारती, रससूत्र के प्रसंग में अभिनव गुप्त ने कहा है- ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती। फलं तदाद्यैः परिकल्पितानां विवेकसोपानपरम्पराणाम्।।

५. तु० हेगेल, एन्त्सिल्कोपेदी (हाम्बुर्ग, १९६९), पृ०१०२-३ :
विरोधग्रस्त प्रत्ययों का अतिक्रमण 'डायलेक्टिक' का लक्षण ।

६. हेगेल ने सौन्दर्यतत्त्व विमर्श और कला इतिहास, इन दोनों को समान ही क्रम से (प्रस्तुत) किया है। शिल्पिकृत ऐन्द्रिय रूपों में भौतिक उपादान और प्रत्यय (बौद्ध) परस्पर अनुरूप होते हैं। उदा० द्र० हेगेल, पूर्व० पृ० ४४२. इतिहास में विवर्तमानं सौन्दर्य-प्रत्यय संक्षेप से तीन हैं, तीन प्रकार से युग का विभाजन करते हैं, जैसे, प्रतीकप्राधान्य, जहाँ प्रत्यय की व्याप्ति में रूप अशक्त है, भारतीय शिल्प इसका निदर्शन है। दो प्रत्ययों का सामरस्य, जैसे प्राचीन भवन-शिल्प में, प्रत्यय का प्राधान्य, जैसे आधुनिक कला में। द्र० हेगेल, ईस्थैटिक (बर्लिन, १९५५), पृ० ३१०, ४१८, ४९५.

७. अभिधर्मकोशभाष्य (पटना, १९७५), पृ० ६.

८. द्र०पी०एस० शास्त्री,ए०बी०ओ०आर०आई०,३२, पृ० ८४-१२१

९. 'सङ्केत' शब्द यहाँ सङ्केत से (=इच्छा से, समय से) परोक्षार्थसूचक प्रत्यक्षचिह्न के अर्थ प्रयुक्त हुआ है। जैसे लिपि शब्द संकेतित करती है, शब्द अर्थ को। वैदिक रूप, प्रतीक शब्द भी यहाँ प्रायः सदृश हैं

१०. अभिनवभारती के प्रथम अध्ध्याय में

११. उदा० कासिरेर, फिलौसफी ऑव सिम्बालिक फोर्म्स (आंग्ल अनु०)

१२. द्र० मेरे लेख 'द अर्ली बुधिस्ट नोशन ऑव ब्यूटी' (राजस्थान यूनिवर्सिटी स्टडीज), 'रिफ्लैक्शन्स ऑन बुधिस्ट ईस्थैटिक्स' (जर्नल ऑव बुधिस्ट स्टडीज, दिल्ली विश्वविद्यालय).

१३. द्र० वसुबन्धु, विंशतिका, त्रिंशिका च, तु० मेरा ऐस्पेक्ट्स ऑव महायान (सारनाथ भोट-संस्थान से प्रकाशित).

१४. तु० ध्वन्यालोक (बनारस, १९४०), सम्पादकीय, पृ० ९-१०

१५. इस मत का सुप्रसिद्ध प्रतिपादन विटगैन्स्टाइन नाम के दार्शनिक प्रवर ने ट्रैक्टेटस लौगिकोफिलसोफिकस (अनु०) नाम के ग्रन्थ में किया है यह विद्वानों को विदित है मेरे द्वारा अनूदित और व्याख्यात द्र० फिलसौफिकल इन्वैस्टिगेशन्स (अनु०)

१६. द्र० बाद में उसने ही मतान्तर प्रकाशित किया है अपोहसिद्धि (सारनाथ-भोट-विद्या-संस्थान से प्रकाशित)

रसतत्त्व का विमर्श

'रस' का प्रयोग शृङ्गार आदि, विष, वीर्य, गुण, राग और द्रव के अर्थ में होता है। वह देवोपासना के सम्बन्ध से, वेदों में भी नाना अर्थों में, प्रयुक्त हुआ है।। १।।

सोम और साम के विधानों में रस-युक्ति कही गयी है। वह आनन्द दिव्या प्रीति है, भाव्य और संवित् का व्यङ्ग्य है।। २।।

सामरस्य से स्वच्छन्द वाक् और प्राण का मिथुनीभाव शिल्प है, उससे आत्मकृति अपनी ज्योति द्वारा निर्मित होती है।। ३।।

'रस' शब्द की अनेकार्थता सुविदित है, जैसा कि अमर सिंह ने कहा है- "शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः" (३.३.२२) धातु-पाठ में भी रसधातु आस्वादनार्थक और स्नेहनार्थक है। प्राचीनतम वैदिक प्रयोगों में, 'रस' से 'अन्तःसारभूत द्रव' रूप अर्थ अभिधीयमान प्रतीत होता है। जैसे, "तमासोमे रसमादधुः," "यो वः अन्तरिक्षमापृणाद् रसेन," "यो नो रसं दिक्षति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां, यस्तनूनाम्"। इस प्रकार 'रस' शब्द का प्रयोग सार, मधुर, शुभ और अमृत के अर्थ में उपलब्ध होता है। उपनिषदों में 'रस' सार-तत्त्व को कहते हैं; जैसे-

"एषा भूतानां पृथिवी रसः। पृथिव्या आपो रसः। अपाम् ओषधयो रसः। ओषधीनां पुरुषो रसः। पुरुषस्य वाग् रसो वाचो ऋग्रसः, ऋचः साम रसः, साम्न उद्गीथो रसः, स एष रसानां रसतमः, परमः परार्ध्योऽष्टमोऽयमुद्गीथः।" (छान्दोग्य १.१.२-३)

भगवत्पाद ने यहाँ 'रस' की, मूल के अर्थ में और श्रेष्ठ तत्त्व के अर्थ में व्याख्या की है। और, इस प्रकार सर्वभूतों का मूल पृथिवी है, पृथिवी जल में प्रतिष्ठित है, ओषधियों का मूल जल है। वाक् पुरुष का श्रेष्ठ तत्त्व है, वाक् का सार ऋक् और साम हैं। साम का तत्त्व उद्गीथ, अर्थात् प्रणव

है। पुरुष यहाँ जगत् का मूलतत्त्व है। और, उसकी, सृष्टि में समर्थ ज्ञानमयी वाक् ही परमशक्ति है। जैसे ईश्वर ने वेदों से जगत् का निर्माण किया, उसी प्रकार पुरुष भी वाक् से मनोमय अर्थों का सर्जन करता है। इस प्रकार वाक् और प्राण ज्ञान और शक्ति की भाँति युगनद्ध (एक दूसरे से जुड़े हुए) हैं। "कतमा कतमर्क् कतमत्साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति। वागेवर्क् प्राणः, साम, ओमित्येतदक्षरम् उद्गीथः। तद् वा एतन्मिथुनं यद्वाक् च प्राणश्च ऋक् च साम च।"

'रस' शब्द के ये प्रयोग सोम की उपासना और साम के उपासन से सम्बद्ध हैं। जैसा कि कहा गया है- "ओमित्युद्गायतीति लिङ्गाच्च सोमयाग इति गम्यते।" सोम-रस हर्ष देने वाला और आह्लाद का हेतु विदित है, और, देवताओं का मुख्य आहार है। सोम को केवल बाह्य द्रव्यमात्र नहीं समझना चाहिए; "हविर्वै यजमानः' इस वचन से यजमान का आत्मनिवेदनात्मक भाव ही सोम का मुख्य अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार सोमरस का तात्पर्य भक्तिरस में ही समझना चाहिए। "हविर्वै यजमानः" इस उक्ति को अर्थवाद नहीं कहना चाहिए। क्योंकि भावनात्मक अन्तर्याग में द्रव्यात्मक हविष् ग्राह्य नहीं होता। और, अन्तर्याग में ही बाह्य याग का तात्पर्य ग्रहण करने में औचित्य है। क्योंकि देवता होकर विग्रहवान् मनुष्यों की भाँति भौतिक द्रव्यों को ग्रहण करते हुए नहीं देखे गये हैं। पुरुष के साक्षीभूत वे अन्तर्मुख, उसके भाव से ही तृप्त होते हैं। इस प्रकार भगवान् ने (गीता में)कहा है-

'श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाद् ज्ञानयज्ञः परन्तप।'

अर्थात् हे शत्रु को पीडित करने वाले (अर्जुन) द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेयस्कर है।

अतः सोम का उपासन, स्वात्मनिवेदनात्मक भाव से साक्षिचैतन्य रूप देव का तर्पण है। और इस सोमोपासन से सम्बद्ध सामोपासन है, और वह नाद का उपासन ही है। नाद का मूलभूत प्रणव ही परमात्मा के प्रतीक रूप में प्रस्तुत है। और, उद्गान करते हुए (व्यक्ति) का स्फुरित होता हुआ चैतन्यात्मक प्राण और अभिव्यक्तिरूपा छन्दोमयी वाक् दोनों मिथुनीभाव को प्राप्त होते हैं। छन्दोमयी वाक् से युक्त प्राण ही रस है। "एतमेवाङ्गिरसं

मन्यन्तेऽङ्गानां यद् रसः।" (छा०१/२.१०)। "सोऽङ्गानां प्राणः सन् रसः तेनासावाङ्गिरसः।" यह रस अमृत रूप है जिसके दर्शन से देवता तृप्त होते हैं। "त एतदेव रूपमभिसंविशन्ति। एतस्माद् रूपाद् उद्यन्ति।"

इस प्रकार उपासनाकाण्ड में, रस का रहस्य वाक् और प्राण के मिथुन द्वारा और प्रणव द्वारा सङ्केतित है। ज्ञानकाण्ड में स्पष्ट ही रस का आत्मरूपत्व प्रतिपादित है।

"असद् वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात् तत् सुकृतमुच्यत इति। यद् वै सुकृतं रसो वै सः।।" "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति यदा ह्येवैष एतस्मिन् अदृश्ये अनात्म्ये अनिरुक्ते, अनिलयने अभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति।" (तै. २.७)

यहाँ पर रस की आनन्दार्थता और आनन्द की आत्मस्वरूपता स्पष्ट कही गयी है। इस स्वरूपानन्द को संवेदनरूप सात्त्विक अथवा औपाधिक विषयानन्द से विवेचित/पृथक् करना चाहिए। जैसा कि आनन्द की मीमांसा भी वहीं सुविदित है जहाँ अकामहत श्रोत्रिय का आनन्द सभी विषयानन्दों से श्रेष्ठ कहा गया है। "क्या आनन्द विषय-विषयि सम्बन्ध से जनित लौकिक आनन्द की भाँति है अथवा स्वाभाविक है--- वहाँ लौकिक आनन्द, जिसका निमित्त बाह्य-आध्यात्मिक साधन सम्पत्ति है, उत्कृष्ट है।" आपामर प्रसिद्ध यह लौकिक आनन्द विषयसंवेदनात्मक है, किन्तु जो विषय से भिन्न व्यावृत्तबुद्धि द्वारा गम्य है ऐसा ब्रह्मानन्द उससे (लौकिक आनन्द से) भिन्न है। तथापि, अविद्याच्छन्न और कर्मपरवश जन का "लौकिक आनन्द भी ब्रह्मानन्द की ही मात्रा है"। और फिर, "वही अविद्याकाम-कर्म के अपकर्ष से मनुष्य, गन्धर्व आदि उत्तरोत्तर भूमियों में, अकामहत विद्वान् श्रोत्रिय का प्रत्यक्ष होकर शतगुण उत्तरोत्तर उत्कर्ष से हिरण्यगर्भ ब्रह्म का आनन्द प्रकट प्रतीत होता है। विद्या द्वारा, अविद्याकृत विषय-विषयी विभाग के निरस्त हो जाने पर, स्वाभाविक परिपूर्ण एक अद्वैत आनन्द होता है।"

ब्रह्म के स्वरूप से अभिन्न (जो) आनन्द सहज, निष्काम और निर्विषय है, वही परमार्थतः रस है। यह विषयास्वाद नहीं है, प्रत्युत

आत्मस्वभाव ही है, विकारी संवेदन रूप नहीं, अपितु निर्विकार चैतन्य से अभिन्न है। आनन्दस्वरूप भी यह आत्मा विषयाध्यास के कारण, सुख, दुःख, मोह द्वारा अभिभूत होता है, निरानन्द की भाँति बाह्य विषयों में रस ढूँढ़ता है। जहाँ कहीं आत्मा की छाया ग्रहण करता है, उसे प्रियत्व आभासित होता है। "न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।"

"आत्मप्रीति के साधन होने के कारण अन्यत्र प्रीति गौणी होती है, आत्मा में ही मुख्य होती है।" रस के मलिन प्रतिबिम्ब की भाँति विषय की प्रीति सर्वविदित है। सत्त्वशुद्धि से यह प्रतिबिम्ब विमलतर हो जाता है, जैसे निष्काम श्रोत्रिय का। बिम्ब तो विषय से परावृत्त स्वरूपस्थ चैतन्य ही है। शुद्ध विषय वाली बुद्धि विषय-सुख और निर्विषय आनन्द के बीच रहती है। उसकी सात्त्विक उपाधियों में ज्योति, नाद और चित्त की ध्यानादि वृत्ति मुख्य हैं। और, इसलिए रूप, शब्द आदि की भावना से उपकृत अन्तर्मुख चैतन्य में रस की प्रतीति व्यञ्जित होती है। और, वह प्रतीति, विशद आदर्श (मुकुर) जैसे विषयों में उनके (विषयों के)अनुभवाकार से संवलित सहज आनन्द का प्रतिबिम्ब है।

तब यह नाट्य-रस क्या है? क्या (यह) मनोरञ्जन ही है? अथवा सहृदयों द्वारा आस्वाद्य कोई उत्कर्ष (यहाँ) इष्ट है?।। ४।।

नाट्यशास्त्र में नाना कलाएं एक साथ रखी गयी हैं। और उनका अन्वय-सूत्र रस ही लक्षित किया जा सकता है। जैसा कि कहा है-

'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।'

(रस के बिना कोई नाट्याङ्ग रूप अर्थ प्रवृत्त नहीं होता।)

और, अभिनवगुप्तपाद भी कहते हैं-'रस ही नाट्य है।' जो-जो भी नाट्य में प्रस्तुत होता है उस सब का प्रयोजन रस-परिपाक ही है। आङ्ग्लदेश में विश्रुतकीर्ति निकल नाम के आचार्य ने रस को, नाट्य का समग्र प्रभाव से अनन्य प्रतिपादित किया है। और, जो भरत ने नाना व्यञ्जनों के समायोग (सम्मिश्रण) से रस की उत्पत्ति का दृष्टान्त प्रत्युपस्थित किया है वह भी नाट्यव्यापी आस्वाद को ही रस निरूपित करता है। सभी सङ्गत नाट्याङ्ग रस-निष्पत्ति के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। कालान्तर में, काव्यमात्र

तथा सङ्गीत और शिल्प का सार 'रस' के रूप में प्रतिष्ठित हुआ यह (तथ्य) प्राय: विद्वानों ने स्वीकार किया है।

यह सुविदित है कि साहित्य और कलाओं में विलक्षण कोई आस्वाद उपलब्ध होता है। कौन यह आस्वाद है यह तो बहुत ही विप्रतिपत्ति का विषय है। कुछ लोग काव्यादि की आस्वाद्यता उनकी मनोरञ्जकता को ही कहते हैं। जैसा कि नाट्य-समारोह में आबाल-गोपाल लोग अनुरक्त- चित्त दिखाई देते हैं। किन्तु जहाँ वे अनुरक्त होते हैं वहाँ अभिज्ञ लोग उसी प्रकार सादर नहीं होते। काव्यादि में भी प्राकृत जनों का मन:प्रसादन काव्य के उत्कर्ष का सूचक नहीं होता। और उसी प्रकार सङ्गीत में भी लोकगीत आदि से मनोरञ्जन होता है, वहाँ आचार्य लोगों का अभिनिवेश नहीं होता। इस प्रकार, काव्य आदि में सर्वत्र ही रञ्जकता के विद्यमान होने पर भी उतने से लक्ष्य का उत्कर्ष सिद्ध नहीं होता। अथवा, 'रञ्जकता' इस शब्द में 'सहृदय-रञ्जकत्व' ही कहना चाहिए। कदाचित् जो प्राकृतजनों का रञ्जक है वह विद्वान् सहृदयों का रञ्जक नहीं है। अन्यथा भी सहृदयों का मनोरञ्जन दुर्लभ ही है। आई०ए०रिचर्डस् नाम के प्रसिद्ध विद्वान् ने लिखा है- "एक बार प्रतिश्याय, ज्वर आदि से ग्रस्त मैंने 'एला वीलर विलकाक्स' इस नाम की कवयित्री द्वारा रचित पद्यों को पढ़ रहा था कि भाव-विह्वल हो गया, तब बाद में स्वस्थ होकर अनुताप का अनुभव करने लगा कि वैसे उन भावाभासलक्षित पदों में जो मैंने रक्ति का अनुभव किया!* तदनन्तर उसने अपनी अध्ययन- वेला में यह नियम बनाया कि अस्वस्थ मन से काव्य का परिशीलन नहीं करना चाहिए। इस वृत्तान्त से व्यञ्जित होता है कि जिस किसी की, अथवा जैसी कैसी रक्ति-प्रतीति काव्यादि में उसके उत्कर्ष का हेतु नहीं मानी जा सकती। अभिनवगुप्तपाद भी कहते हैं- "हास-रुदित प्रधान रचनाओं में स्त्रियाँ और बालक अधिकतर रक्ति का अनुभव करते हैं।"

यद्यपि इस प्रकार प्राकृतजनों और शिष्टजनों का रुचि-भेद स्पष्ट ही लक्षित किया जा सकता है, वैसे ही काव्यादि के प्रभेद भी अलग-अलग रूप से लक्षित किये जा सकते हैं, तथापि कुछ लोग कहते हैं- "उत्कृष्ट काव्य और नाट्य में प्राकृतजन का रञ्जन और शिष्टजन का रञ्जन दोनों

---

* आई०ए० रिचर्ड्स : प्रिंसिपल्स ऑव लिटररी क्रिटिसिज़्म

अपेक्षित होते हैं। जैसा कि प्रसिद्ध, प्राचीन यूनानी नाट्यकारों के प्रयोग सुबहुल जन-समाज द्वारा प्रेक्षित और प्रशंसित हुए। इसी प्रकार, शेक्सपियर द्वारा किये गये प्रयोग विपुल सामाजिक परिषद् द्वारा देखकर सराहे गये। और फिर, बहुत से आधुनिक जनवादी परीक्षक नाट्य के प्रयोजनों में सामान्यजनों के मनोरञ्जन की, प्रथम रूप से गणना करते हैं। 'अनर्घ-राघव' सदृश दुर्बोध प्रयोगों को वे लोग सदोष ही मानते हैं। काव्य में भी यही विरोध दिखाई देता है, जिन सहृदयों ने माघ, नैषध आदि काव्यों का सुचिर काल तक अभ्यास कर लिया, वे अश्वघोष आदि के काव्यों में रुचि नहीं लेते। पाश्चात्य संस्कृतज्ञ माघ, नैषध आदि काव्यों का आस्वादन नहीं करते।

उत्कर्ष-हेतु के रूप में अभिमत रस में उसका अर्थ केवल मनोरञ्जन रूप ही नहीं है। मनोरञ्जन भी कहीं चमत्कारमात्र का आलम्बन करता है और कहीं रस का। जैसे बाँस पर चढ़ता हुआ नट चमत्कार के साथ देखा जाता है, वहाँ कोई रस नहीं है। अथवा जैसे क्रीडा के प्रदर्शनों में मनोरञ्जक चमत्कार लक्षित ही होता है और उससे कोई रसास्वाद नहीं होता। आस्वाद-विशेषभूत रस मनोरञ्जन से सङ्गत होकर भी विद्वान् सहृदय का अधिकतर सामान्यजन गोचर मनोरञ्जन से अभिन्न नहीं होता। रस का लक्षण कैसे बनाना चाहिए? इसका अवच्छेदक क्या है, इसकी पुरुषार्थयोगिता क्या है? इसकी उपादेयता क्या है? और कैसे यह काव्यादि के विवेचन में उत्कर्ष के तारतम्य का प्रज्ञापक लक्षण है? यह क्या सनातन है, अथवा प्राचीन युग में ही इसका जीवन समाप्त हो चुका है? इत्यादि प्रश्न विचारणीय रूप से उपस्थित होते हैं।

मुनि ने नाट्य के सन्दर्भ में रसतत्त्व का निरूपण किया है। लोक को दृष्टान्त के रूप में रखकर सत् लोगों को (वे) समझाते हैं।। ५।।

अहंबुद्धि के स्थगित होने पर (और) भाव के रूपान्तरीकृत होने पर यहाँ स्वरूप के उन्मीलन से प्रबोधन स्फुट होता है।। ६।।

भरत ने नाट्यशास्त्र के षष्ठ और सप्तम अध्यायों में रस का निरूपण किया है। प्रथमतः ही वहाँ प्रश्न लक्षित होता है-

नाट्य के विद्वान् लोग नाट्य में जिन्हें 'रस' नाम से पढ़ा करते हैं उन्हें किस कारण 'रस' कहा जाता है, इसे बतलायें।

भाव क्यों कहे गये हैं और वे किसे भावित करते हैं, और संग्रह, कारिका तथा निरुक्त भी तत्त्वतः (बतलायें)। (६.२-३)

इस प्रश्न के बाद भरत मुनि रस, भाव के विकल्पन (निश्चय) की बात करते हैं, रस, भाव आदि के संग्रह को तेरह प्रकार का कहते हैं। वह इस प्रकार है-

रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्तियाँ, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान और रङ्ग- यह संग्रह है।

उपचार और मण्डप इन दोनों को मिलाकर तेरह प्रकार का नाट्य-संग्रह आदिष्ट हुआ है। (६.१०)

इस प्रकार नाट्य, बहुत से अवयवभूत धर्मों के अथवा नाट्यत्व के विधायक तत्त्वों के सङ्ग्रह के रूप में विवक्षित है। वे तत्त्व यहाँ संगृहीत हैं। उनमें रस प्रथम है और आठ प्रकार का कहा गया है। यहाँ शङ्का उठती है कि संग्रहवाक्य में नाट्य के पदार्थों का, नामों का कथन हुआ है, वहाँ बहुबचन में रस शब्द का प्रयोग कैसे किया है, जैसे-

शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत ये आठ नाट्य-रस कहे गये हैं। इन आठ रसों को महात्मा द्रुहिण ने कहा है।

रस, भाव, अभिनय आदि ये सभी स्व-भेद द्वारा नाट्य-प्रयोग का भेद उत्पन्न करते हैं। नानाविध नाट्यों को देखते हुए सहृदय नाट्य को लोक और नाट्यान्तर से जिन विशेषों द्वारा पृथक्-पृथक् लक्षित करते हैं वे ही विशेष नाट्य-संग्रह के वचन में संगृहीत पदार्थ हैं। एक ओर, रस, भाव आदि नाट्य को लोक से विशिष्ट (भिन्न) करते हैं, और दूसरी ओर नाट्यगत प्रभेद नाट्य के प्रभेदों को परस्पर विशिष्ट करते हैं। इस प्रकार लोक से नाट्य का वैलक्षण्य करता हुआ रस एकवचन में प्रयोग के योग्य होकर भी, नाट्य के प्रभेदों को परस्पर व्यावृत्त करता हुआ, स्वयं भी बहुत्व को प्राप्त करता हुआ बहुवचन में प्रयोग के योग्य है। सामाजिकों द्वारा नाट्य से मुख्य रूप से जिस अर्थ (पदार्थ) को ग्रहण करते हैं, वही रस है। अतः उसका नाट्य-पदार्थ-संग्रह में स्थान सबसे ऊपर (शीर्षस्थानीय) है। नाट्य के प्रेक्षण के लिए जाने की इच्छा वाले अथवा उसे देख कर लौटते हुए सामाजिकों से यदि पूछा जाता है कि आपका नाट्य के प्रेक्षण का

उद्देश्य क्या है, तो उनका प्रतिवचन (उत्तर) होता है- रस की उपलब्धि। रस के लिए नाट्य देखा जाता है। अतः कहा भी है-

'रस के बिना कोई अर्थ (नाट्याङ्ग रूप) प्रवृत्त नहीं होता।' और, जो कि कविकुलगुरु ने नाट्य का 'अष्टरसाश्रयत्व' कहा है, वहाँ भी 'आश्रयत्व' कवि, नट और सामाजिक के चित्त के अनुगत भावना का विषय होना है। जो कवि की प्रतिभा का विषय है उसे ही सामाजिक लोग नट के व्यापार से पुरस्कृत प्रत्यक्ष रूप सङ्केतों से जानते हैं। नाट्य में सन्दर्शित नाना अर्थों की आलोचना करता हुआ सामाजिक प्रयोगक्रम से उपचित चित्त की किसी अनिर्वचनीय अवस्था को अनुभव करता है, जहाँ विलक्षण सविषय आस्वाद स्फुरित होता है। यह आस्वाद निर्विकल्प, अव्यक्त विषय वाला, रसना, काय, इन्द्रिय के विकारमात्र के संवेदन जैसा नहीं है, न ही स्वगत सुख का मानस प्रत्यक्ष जैसा है, प्रत्युत स्फुट तथा अलग-अलग विषय के आलम्बन वाला है। और, विमृश्य होने पर भी वह स्फुट आस्वाद्य अर्थ, देह को प्राण की भाँति और वचन को अभिप्राय की भाँति नाट्य-कलेवर को व्याप्त करता है।

बहुत अर्थों के समवाय वाले भी नाट्य में रस प्राधान्य को प्राप्त करता है, जैसे भोजन के विशेषज्ञों के मत में द्रव्य-संस्कार।। ७।।

चित्त ही मूल द्रव्य है, भाव ही संस्कार है, लोक के लिए किये गये सङ्कोच के समाप्त होने पर संविद्-रस का उदय होता है।। ८।।

संग्रह-वचन में, प्रथम उपदिष्ट रस-पदार्थ के मुख्य होने से, अन्य पदार्थ, परिवार के उपकरण (सामग्री) भूत हैं। रस-प्रतीति के अन्तरङ्ग होने से ही भाव उसके पश्चात् कहे गये हैं। भाव के प्रत्यायक होने से अभिनय अभीष्ट हैं। वहाँ लोक-सादृश्य के अंशतः विद्यमान होने के कारण धर्मी, नाट्यार्थ के प्रकाशक होने के कारण वृत्ति-प्रवृत्तियाँ, प्रयोग-फल रूप होने के कारण सिद्धि, सामाजिकों के चित्तानुकूलत्व के सम्पादन के लिए होने के कारण स्वर, आतोद्यगान और नाट्य-प्रयोग के साधन होने के कारण रङ्गोपचार, मण्डप उत्तरोत्तर क्रम से कहे गये हैं। और इस प्रकार संग्रह-वचन साध्य-साधन के क्रम से रस को ही मुख्यरूप से निरूपित करता है,

क्योंकि सहृदय के हृदय से संवाद रखने वाली नाट्यगत अशेष अर्थ-प्रवृत्ति का रस से सम्बन्ध अविनाभूत (अव्यभिचरित) है।

भरत का सुप्रसिद्ध रस-सूत्र है- "विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद् रसनिष्पत्तिः।" और, भरत का कथन स्मरणीय है-

विभाव इति कस्मात्, उच्यते-विभावो विज्ञानार्थः, विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः।

अथानुभाव इति कस्मात्, उच्यते- यदयमनुभावयति वागङ्गसत्त्वकृतमभिनयमिति।"

इस प्रकार भाव नाम की चित्तवृत्ति के उद्भव का हेतु विषय विभाव है। उसका कार्यभूत अनुभाव उसका परिपोषक है, जैसे कटाक्ष, भुजक्षेप आदि, रति के। व्यभिचारी भाव तो स्थायी के अनुगुण अनित्य हर्ष आदि भाव हैं। इस प्रकार, कारण, कार्य और सहकारी, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों से संयुक्त स्थायी भाव रस के रूप में निष्पन्न होता है, इस प्रकार यह रस-सूत्र का अर्थ निकलता है। जैसा कि दशरूपक में (कहा है)- रस की अवस्था तक पहुँचा हुआ परमभाव स्थायिता को प्राप्त होता है। मम्मट का निरूपण सुस्पष्ट वचन होने के कारण मुनि के मत के उद्धरण के योग्य है-

"कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः"।।

जो लोक में, रत्यादि स्थायी भाव के कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, वे ही यदि नाट्य और काव्य में हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं, उन विभावादि से व्यक्त हुआ स्थायी भाव रस कहलाता है।

मुनि ने सुविदित दृष्टान्त प्रस्तुत किया है- जैसे गुड़ आदि द्रव्यों, व्यञ्जनों (उपसेचकों) तथा औषधियों से षाडवादि रस बनाते हैं उसी प्रकार नानाभावों के संयोग से स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होते हैं। यहाँ कहते

हैं- यह रस कौन सा पदार्थ है? कहते हैं- आस्वाद के भान होने से रस कहा जाता है। रस का आस्वादन किस प्रकार किया जाता है? जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यञ्जनों से संस्कृत (सम्मिश्रित) अन्न को खाने वाले लोग रसों का आस्वादन करते हैं, और सहृदय लोग हर्षादि प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार नाना प्रकार के भावों और अभिनयों के द्वारा व्यक्त किए गए वाचिक, आङ्गिक तथा सात्त्विक अभिनयों से युक्त स्थायिभावों का सहृदय प्रेक्षक आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त करते हैं, इसलिए इन्हें नाट्य-रस कहते हैं। वहाँ आनुवंश्य (शिष्य-आचार्य की परम्परा) से प्रसिद्ध श्लोक उदाहृत हैं, जैसे-

'यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः।
भावाभिनयसम्बद्धान्स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः।।'

जिस प्रकार अनेक द्रव्यों तथा अनेक उपसेचक द्रव्यों से युक्त भोजन को भोजन का आस्वाद लेने वाले लोग खाते हुए उस (रस) का आस्वादन करते हैं (उसी प्रकार) नाना भावों तथा अभिनयों से सम्बद्ध स्थायिभावों का सहृदय लोग मन से आस्वादन करते हैं। इसलिए उन्हें 'नाट्यरस' कहा गया है।

अविवेकी ही पामर क्षुधित होकर सतृणाभ्यवहार न्याय से भोजन करता है, कर्म के अधीन लौकिकजन भी यथाप्राप्त भोगों का भोग करते हैं। उसी से सुख-दुःख की प्राप्ति होती है, न कि रस की प्राप्ति, यह सामान्यतः सर्वविदित है। लोक में कुछ ही सहृदय लोग तत्काल कर्मव्यासङ्ग की उपेक्षा करके, विमल सत्त्व-वृत्ति के समुदित होने पर, चित्त की वृत्ति की अभिव्यक्ति करने वाले दृश्यरूपों अथवा उन-उन चरितों को स्वयं अनासक्त होकर देखते हैं। जब वे खिले फूलों में हास को, उज्ज्वल शिलाओं में निश्चलता को, कर्मशीलों में उत्साह को, स्त्रियों में माधुर्य को, बालकों में निश्छलता को और वृद्धों में गौरव को देखते हैं तब उनके लिए लोक नाट्य- जैसा बन जाता है। उन्हीं सहृदयों द्वारा, मेघाच्छन्न दिन की भाँति, कर्म-भोग से अन्धकारित लोक में अकस्मात् जैसे आदर्श बने आकाश की नीलिमा में अलौकिक रस आस्वादित होता है। किन्तु जो लोकव्यवहार

वाले, निश्चेतन बाह्यार्थ की प्रतीति के कारण कठिन चित्त वाले, स्वभोग से अभिभूत बुद्धि वाले प्राकृत लोग हैं, उनके लिए तृष्णा, आयास, दुःख-द्वन्द्व का बन्धन ही सतत आसक्तिजन्य उद्वेग उत्पन्न करता है। बाह्य पदार्थों में साध्य-साधनत्व की 'बुद्धि और सुख-दुःख में स्वभोगत्व की बुद्धि उनकी रसप्रतीति और सौन्दर्य-प्रतीति को बाधित करती है। वे भोग-भक्त ही हैं, न कि रस-भक्त। और, विशिष्ट शिष्टों, कवि, शिल्पी, भगवद्भक्त आदि जनों की जो रस-प्रतीति लोक में भी बार-बार नहीं होती, अथवा जो (रस-प्रतीति) दूसरों के भी विशिष्ट अवस्थाओं में पूर्वराग, चिरविरह, परदुःखदर्शन आदि में उत्पन्न होती है वही विलक्षण आस्वाद तथा भावपरामर्श-प्रधान प्रतीति नाट्य में सहृदय सामाजिक मात्र द्वारा लक्षित होती है। इसीलिए भरत ने कहा-जिस प्रकार भक्त-विद् लोग व्यञ्जन-संस्कृत भोजन का आस्वादन करते हैं उसीप्रकार सहृदय लोग मन से, अभिनय द्वारा व्यक्त स्थायिभावों का आस्वादन करते हैं। नाट्य द्वारा उपनीत (प्रस्तुत) भाव-परामर्श से प्राप्त आस्वाद ही नाट्य-रस है।

इस पर शङ्का करते हैं कि भक्त (भोजन) में व्यञ्जनों (उपसेचकों) द्वारा स्वगत आस्वाद जोड़ दिये जाते हैं, किन्तु अभिनय भाव में कुछ भी नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि वह स्वयमेव अनुकृति रूप है, उससे भाव में आस्वाद कैसे जोड़ा जा सकता है? इस शङ्का पर कहते हैं- भाव में व्यङ्ग्यत्व को ही जोड़ा जाता है, जिससे वह (भाव) स्वभोग्यत्व के अभाव में भी सुस्फुट प्रतीति के योग्य हो जाता है। अभिनय आदि व्यञ्जकों की महिमा यही है कि वे, जनक हेतु के अभाव में भी, अन्तः परामृश्य भी भावों को प्रत्यक्षवत् उपस्थापित करते हैं। नाट्य में, लोक की भाँति जन्य भाव नहीं होता, अपितु व्यङ्ग्य (भाव) होता है। वह नाट्यार्थ का आलम्बन करके मन से आस्वाद्य होकर रसत्व को प्राप्त होता है। तथा व्यङ्ग्य, कल्पित आलम्बन वाला और आस्वाद्यसार होने के कारण इसकी विलक्षणता है।

इस पर आशङ्का करते हैं कि दृष्टान्त में व्यञ्जन के संस्कार से भक्त की भाँति लौकिक मात्र अर्थों को नाट्य में उपस्थापित अर्थों के संयोजन से जो सरस बना देता है उस रस के उस मूल को खोजना चाहिए, जैसे क्या भक्त में संस्कार द्रव्य की तरह लौकिक अर्थों में या अभिनय की तरह

इसका हेतु खोजना चाहिए! इस आशङ्का के उत्तर में कहते हैं कि, यह ध्यान में रखना चाहिए कि कहीं पर दृष्टान्त का दार्ष्टान्तिक से सर्वथा साम्य इष्ट नहीं होता। दोनों में यहाँ आस्वाद अपूर्व होकर भी मूलद्रव्य और संस्कार दोनों में होता है; किन्तु दार्ष्टान्तिक में द्रव्य स्थायिभाव ही है, संस्कार करने वाला अभिनय आङ्गिक आदि भेदों से भिन्न, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी रूप व्यञ्जक ही हैं। संस्कार वासना का व्यञ्जक के द्वारा मानस साक्षात्कार के विषयत्व का सम्पादन है।

इस प्रकार रस-सूत्र का मुनि द्वारा अभिप्रेत अर्थ उनके दृष्टान्त से ही स्फुट होता है। तब भी, बहुत से प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्यों ने इसके (रस-सूत्र के) नाना अर्थों को प्रपञ्चित किया है। बहुत सी रस-सूत्र की विवृतियाँ लुप्त हो चुकी हैं, तथापि किन्हीं विवृतियों का संक्षेप, अभिनवगुप्ताचार्य द्वारा विरचित अभिनव-भारती में प्राप्त होता है, यह विदित ही है।[1] विवृतिकारों में विप्रतिपत्ति का हेतु मुख्यतः रस-सूत्र के 'संयोग' और 'निष्पत्ति' इन दो पदों के अर्थ-परिच्छेद की अपेक्षा है। संयोग किसका, किसके साथ और किस प्रकार का है, यह कहना चाहिए। अव्यक्त स्थायिभाव के साथ, विभावादि कैसे संयोज्य हैं, अथवा व्यक्त के साथ किसलिए (संयोज्य हैं)। यह विषय व्याख्या की अपेक्षा रखता है। निष्पत्ति भी क्या उत्पत्ति ही है, अथवा ज्ञान का विषय होना है और फिर ज्ञान का स्वरूप क्या है, उसका प्रमाण क्या है यह कहना चाहिए। इस प्रकार, प्राचीन आचार्यों ने तीन पक्षों की उद्भावना की है- उत्पत्ति-पक्ष, अनुमिति-पक्ष और व्यक्ति-पक्ष।

लौकिक भाव से अभिन्न, प्रतीत और उपचित होकर नाट्य के सन्दर्शन से वह रस प्रेक्षक के चित्त में उत्पन्न होता है।। ९।।

अभिनवगुप्त ने लोल्लट प्रभृति के उत्पत्ति-पक्ष की इस प्रकार व्याख्या की है- "विभावादि का जो संयोग अर्थात् स्थायिभाव के साथ (विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों का संयोग) है उससे रस की निष्पत्ति (उत्पत्ति) होती है। उनमें से विभाव स्थायिभाव रूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में कारण होते हैं। 'अनुभाव' (कटाक्षादि रूप) शब्द से यहाँ रसजन्य विवक्षित नहीं है; क्योंकि उन (रसजन्य अनुभावों) की गणना रस के कारणों में नहीं की जा सकती है, (वे तो रस के कार्यभूत होते हैं)

अपितु भावों के ही जो (पीछे उत्पन्न होने के कारण) अनुभाव हैं (उनका ग्रहण विवक्षित है)। और व्यभिचारिभाव चित्तवृत्ति-स्वरूप होने से यद्यपि स्थायिभाव के साथ नहीं रह सकते हैं, तथापि यहाँ उसके संस्कार रूप से विवक्षित हैं। दृष्टान्त में भी व्यञ्जन के बीच किसी की स्थायिभाव के समान वासनात्मक (अनुद्भूत रूप में)स्थिति होती है और दूसरे की व्यभिचारिभाव के समान उद्भूत रूप में। इस कारण स्थायी ही विभाव, अनुभाव आदि से उपचित (परिपुष्ट) होकर रस होता है। स्थायी भाव तो अनुपचित रहता है। वह अनुकार्य रूप में तथा अनुसन्धान के बल से अनुकर्ता नट में रहता भी है।"

न केवल भट्ट लोल्लट प्रभृति आचार्यों का मत ही, अपितु दण्डी प्रभृति प्राचीन (आचार्यों) का भी यह मत है, ऐसा अभिनवगुप्तपाद कहते हैं। जैसा कि आचार्य दण्डी ने कहा है- "रतिः शृङ्गारतां गता रूपबाहुल्ययोगेन" रूप-बाहुल्य के योग से रति शृङ्गार की स्थिति को प्राप्त हुई। "इत्यारुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः"। इस प्रकार पराकाष्ठा को पहुँच कर कोप रौद्र रूप को प्राप्त हुआ। मम्मट ने भी इस पक्ष को इस प्रकार उद्धृत किया है- "विभावों-ललना आदि आलम्बन और उद्यान आदि उद्दीपन कारण रूप विभावों से, रत्यादि भाव उत्पन्न हुआ, अनुभावों-कटाक्ष, भुजाक्षेप प्रभृति कार्य स्वरूप अनुभावों से प्रतीति के योग्य किया गया; व्यभिचारी-निर्वेद आदि सहकारियों से उपचित (पुष्ट) किया गया, मुख्य वृत्ति से अनुकार्य राम आदि में और उनके स्वरूपानुसन्धान से नट में भी प्रतीयमान रत्यादि स्थायिभाव ही रस है, यह भट्टलोल्लट प्रभृति (कहते हैं)।" हेमचन्द्राचार्य का भी उद्धरण इसी जैसा है।

इस पक्ष में, सभी के हृदय में स्थित वासना रूप भाव 'स्थायी' पद से वाच्य होते हैं। वे योग्य विषय की उपलब्धि होने पर, पुरुष के समक्ष अपनी अव्यक्तता को त्याग देते हैं और विज्ञात होते हैं। और उनके विषय, लोक में अपने विषय के बोध के कारक होने पर भी नाट्यार्पित होकर विज्ञापक रूप में विभाव कहे जाते हैं। विषय से उद्बुद्ध भाव मन-वाक्-काय में विकार उत्पन्न करते हैं, बाहर उस विकार के व्यक्त होने पर, दूसरा (व्यक्ति) भी भाव का अभिज्ञान करने लगता है, और मूल विकार के सदृश, नाट्यार्पित वाचिक-आङ्गिक-सात्त्विक आकारों से भाव का अनुभावन होता है, और

उन्हें अनुभाव कहा जाता है। विच्छिन्न जैसे होकर भी अविच्छिन्न, नाना अवस्थाओं वाले उदबुद्ध्यमान भाव अनित्य अवान्तर भावों से उपचित, (पुष्ट) होते हैं। और वे अवान्तर भाव व्यभिचारी अथवा सञ्चारी कहलाते हैं। लोक और नाट्य में व्यापार तुल्य ही होता है। लोक में, जब दुष्यन्तादि और शकुन्तला आदि को देखते हैं तब उनकी रति जाग पड़ती है, चेष्टाओं से उनके अपने-अपने स्वभाव ज्ञापित होते हैं और मन की नाना अवस्थाओं का अनुभव करते हुए वे शृङ्गार रस का आस्वादन करते हैं। उनके अभिन्न अपने आपको अनुसन्धान करते हुए नट भी उसी प्रकार अनुभव करते हैं। सामाजिक के विषय में (रसज्ञान के विषय में) भट्टलोल्लट का अभिमत उद्धृत न होने के कारण ज्ञात नहीं है, तथापि उसका अनुमान किया जा सकता है। रङ्गमञ्च पर, नट के अभिनय से प्रत्यायित भाव वाला सामाजिक भी अनुकार्य की भाँति और अनुकर्ता की भाँति रस को प्राप्त करता है। इस प्रकार पहले रस उत्पन्न होता है, तब उपचिति और पुष्टि को प्राप्त करता है, अन्त में स्फुट प्रतीत होता है। और उसी प्रकार, निर्गलितार्थ यह कि सूत्र में 'निष्पत्ति' शब्द के तीन अर्थ हुए-उत्पत्ति, उपचिति और प्रतीति।

भाव और रस में मौलिक अभेद है, और रस मूलतः लौकिक ही है, ऐसा मान लेने पर भी लोकसिद्ध रस को रङ्ग पर प्रदर्शित करता हुआ नट क्या उसे अनुभव भी करता है यह सन्देह का विषय बना ही रहता है। यद्यपि भगवान् पतञ्जलि ने 'रसिको नटः' यह कहते हुए, भाव की, अनुसन्धान-रस्यता का समर्थन किया है तथापि बहुत से सुविख्यात आधुनिक अभिनेताओं ने उसका प्रत्याख्यान किया है। और, फिर सामाजिक का प्रत्यायित भाव तटस्थ ज्ञान का विषय होने से रसनीयता की स्थिति तक कैसे आरोहण करेगा, इस शङ्का का परिहार शक्य नहीं है।

भाव रसत्व को कैसे प्राप्त करता है, यहाँ आचार्य श्रीशङ्कुक की प्रसिद्ध आपत्तियों का परिहार कठिन सा है। भाव और रस के अभेद की स्थिति में दो अवस्थाओं को सूचित करते हुए मुनि ने किसलिए भाव-विवरण को दो बार प्रस्तुत किया है? भाव के, रस से अभिन्न होने पर, भाव-भेद और अवस्था-भेद रस-भेद को भी सूचित कर सकते हैं। दस अवस्थाओं वाला काम और दश शृङ्गार और छः प्रकार का हास, यह मुनि-मत से समञ्जस नहीं है।

यहाँ नाट्य और लोक का स्पष्ट सम्बन्ध दिखाई देता है, फिर दोनों का असम्बन्ध सर्वथा लुप्त हो जाता है।। १०।।

वस्तुतः, यह लोल्लट का मत सामान्यतः लोक-सम्मत अभिप्राय को ही परिष्कृत करके प्रस्तुत करता है। यह भी निर्विवादप्राय प्रतीत होता है कि रत्यादिभाव लोकप्रसिद्ध हैं, उनका ही काव्य, नाट्य आदि में किया गया प्रदर्शन विलक्षण आस्वाद को उत्पन्न करता है। लोक में, योग्य विषय का सन्निधान होने पर भाव की उत्पत्ति होती है, नाट्य में उसके (भाव के) अनुसन्धान के बल से उसकी रसात्मक प्रतीति होती है, ये दो व्यापार असन्दिग्ध हैं, तथापि भाव और रस की यहाँ व्याख्या तत्त्वजिज्ञासुओं को परितोष नहीं देती।

नाट्य में उपस्थापित नाना अवस्था वाले लोक के चरित के प्रेक्षण द्वारा रस को अनुभव करता हुआ सामाजिक क्या रत्यादि को अनुभव करते हुए लोक से तुलनीय है? (सामाजिक और लोक) उन दोनों के आस्वाद और उनके विषय आपाततः तुल्य-अतुल्य प्रतीत होते हैं। शाकुन्तल-चरित जो दुष्यन्त को विदित है वह शाकुन्तल नामक नाटक के प्रेक्षकों को भी विदित है। दोनों के सादृश्य में भी भेद स्पष्ट ही है। जो शकुन्तला-दुष्यन्तादि का परोक्ष है वह भी प्रेक्षकों का प्रत्यक्ष है, और जो उनका अपरोक्ष-संविदित है, स्वभोग रूप से वह प्रेक्षकों को दूर से ही जैसे स्व-पर विभेद से रहित आलोचित होता है। यह नहीं कह सकते कि काव्य और नाट्य के विषयों में कहीं सर्वथा लोक-वैलक्ष्यण्य है, क्योंकि सर्वत्र कवि-कल्पना के मूल में लोक-स्मृति होती है। अथवा, कहना यह चाहिए कि विषय के समान या समान उपादान वाला होने पर लोक और नाट्य में लक्षित होने वाला वहाँ ज्ञान-भेद मात्र है। यह शंका भी नहीं कर सकते कि विषयगत विशेष ही ज्ञान को विशेषित करता है, क्योंकि सामाजिक का चित्त विषयाकार के अतिरिक्त संप्रयुक्त धर्म से विशेषित होता है। लोक में भी चैत्त-सम्प्रयुक्त होने के कारण भाव-विषयी की वही स्थिति होगी, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि चैत्तों में भी भेद होता है। इस प्रकार विषय-विषयिरूप नाट्यतत्त्वों के लोक-सादृश्य में भी उनकी रचना अपूर्व ही होती हैं, संगीत के तत्त्वों की भाँति, आगन्तुक अस्तित्व के विमोचन से परिशुद्ध स्वरूपाकार मात्र निर्भासी तत्त्व सुयोजित होते हैं। जडकारित्र से लक्षित

वस्तुत्व के अभाव में भी अवितथ पुरुषार्थ स्वभाव वाला, नियति के भय के अभाव में भी कर्मफल के सम्बन्ध का प्रकाशक, माया के दर्पण में प्रतिबिम्बित जैसा वहाँ लोकाकार रसबोध के सङ्केत का काम करता है।

इस प्रकार भट्ट लोल्लट के मत से नाट्य-विषय का लोक के साथ सादृश्य और नाट्यास्वाद का लौकिक भावास्वाद का सादृश्य प्रतिपादित होता हुआ भी, रस के सुख-दुःख विलक्षणत्व को अथवा अवस्तु विषय होने पर भी सत्पुरुषार्थ प्रत्यय रूप को बोधित कराने में समर्थ नहीं हैं। रस का प्रबोधकत्व अ-प्रमाण है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ प्रमाण के रूप में तीन बातें विद्यमान हैं- 'मुनि का वचन, आचार्य का मत और विवेकी सहृदयों की प्रवृत्ति। क्योंकि मुनि ने नाट्य को हितोपदेश करने वाला 'पञ्चम वेद' कहा है।

'धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।'

यह नाट्य धर्म का जनक, यश को प्रदान करने वाला, आयु को बढ़ाने वाला कल्याणकारी, बुद्धि को बढ़ाने वाला तथा संसार को उपदेश देने वाला होगा।। ना०शा० १.११५

नाट्य, लोक का स्वभाव प्रदर्शित करता है, वेद-विद्या और इतिहासों के आख्यानों का परिकल्पन है, विश्रान्ति देता है और विनोद (रञ्जन) का साधन है, ऐसा मुनि ने प्रतिपादन किया है। तात्पर्य यह कि नाट्य, लोक का स्वभाव प्रदर्शित करता हुआ, वेदोपदिष्ट सनातन धर्म तत्त्व को दृष्टान्तों की परिकल्पना द्वारा प्रत्यक्ष बोध कराता है, दुःख और श्रम को दूर करता हुआ संविद्विश्रान्ति को अर्पित करता है। यहाँ नाट्य के परस्पर असम्बद्ध दो स्वभावों की चर्चा नहीं की है, क्योंकि प्रबोधात्मक और रञ्जनात्मक, दोनों ही (तत्त्व) अखण्ड रस-प्रतीति में संग्राह्य होते हैं। ज्ञान और रक्ति, दोनों का एकत्र समावेश कैसे हो, इस विषय में मम्मटाचार्य कहते हैं- 'सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।' कान्ता का उपदेश रस को हानि नहीं पहुँचाता, अपितु ऐन्द्रिय मनोभूमि से ऊपर बुद्धि-भूमि तक पहुँचाता है। और काव्य तथा नाट्य के ज्ञान से असम्बद्ध माने जाने पर, परस्पर अविरुद्ध रूप से पुरुषार्थों का सेवन करते हुए विवेकी सहृदय उनमें

कैसे प्रवृत्त होते? अभिनवगुप्तपादाचार्य ने जो हासरुदित-प्रधान रूपकों की अप्रबुद्धजनसेव्य होने के कारण निन्दा की, उसे भी यहाँ स्मरण रखना चाहिए।

भट्ट लोल्लट ने नाट्य तत्त्व की लोक-सादृश्य से ही व्याख्या की और रस को लौकिक (सिद्ध) किया है, उसके (रस के) वैलक्षण्य का सम्यक् प्रकाशन नहीं किया है। तब भी, उन्होंने रस की प्रतीति में, लोक प्रत्यक्षायित होता है यह बात सम्यक् रूप से प्रकाशित की है। और, लोक नाट्य में कैसे परिवर्तित होता है, और सामाजिक दृष्टि लौकिक दृष्टि से कैसे भिन्न होती है, इसे उन्होंने अपने विचार का विषय नहीं बनाया है, यह उनके विवरणों से प्रतीत होता है। और विवरण अत्यन्त संक्षिप्त हैं, कदाचित् उस प्रकार के विद्यमान विचार की उपेक्षा करके (वे विवरण) संगृहीत हुए हों।

आचार्य शङ्कुक ने भट्टलोल्लट के मत- उत्पत्तिवाद, उपचितिवाद और प्रतीतिवाद का खण्डन करते हुए, (अपने मत) अनुमितिवाद का प्रतिपादन किया है, यह विद्वानों को विदित ही है। अव्यक्त भाव किस प्रकार हेतुओं से संयोग प्राप्त करेगा या उससे उत्पन्न होगा; क्योंकि अव्यक्त तो अप्राप्य है। नाट्यार्पित हेतु ज्ञापक ही हैं, ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि व्यक्त और अव्यक्त भाव और विभाव का लिङ्ग-लिङ्गि-सम्बन्ध उपपन्न नहीं है। और, फिर, हेतुओं के व्यापार में प्रवर्ततमान होने पर भी भाव कैसे समयानुसार उपचित ही होगा, क्योंकि कहीं उसका ह्रास भी देखा गया है, जैसे- शोक में। और, प्रत्यक्ष से भिन्न प्रतीति किससे साध्य होगी, यह भी कहना चाहिए। विभावादि लिङ्गों से रस की प्रतीति होती है, यह अपना मत आचार्य शङ्कुक ने प्रतिपादन करते हुए, न्यायदर्शन में अपना अनुराग प्रकाशित किया है, इसे प्रायः विद्वान् लोग मानते हैं। और, इस प्रकार वासना की अवस्था में स्थित अव्यक्तभाव की उत्पत्ति का सत्कार्यवाद के अनुसार, प्रतिपादन करते हुए भट्टलोल्लट के मत का खण्डन शङ्कुक ने असत्कार्यवाद का आश्रय लेकर किया है। उनके मत से, नाट्यसम्बन्धी विभाव रूप लिङ्गों से रस विद्यमान सा अनुमेय होता है। "इसलिए कारण रूप विभावों, कार्य रूप अनुभावों तथा सहचारी रूप व्यभिचारी भावों से प्रयत्नपूर्वक अर्जित होने के कारण कृत्रिम होने पर भी उस प्रकार के कृत्रिम न प्रतीत होने वाले लिङ्ग के सामर्थ्य से अनुकर्ता (नट) में स्थित रूप से

प्रतीत होने वाला मुख्य राम आदि में रहने वाले स्थायिभाव का अनुकरण रूप होता है, और अनुकरण रूप होने के कारण ही वह नामान्तर से व्यपदिष्ट रस है। विभाव और अनुभाव को काव्य-बल और शिक्षा से अनुसन्धान करना चाहिए। व्यभिचारी भाव अपने कृत्रिम अनुभावों के अर्जन द्वारा अनुसन्धेय है। अनुसन्धाता से यहाँ नट अभिप्रेत है, क्योंकि विभाव आदि उसके द्वारा प्रदर्शित होते हैं। स्थायीभाव तो काव्य-बल से भी अनुसन्धेय नहीं होता, क्योंकि वह अभिधान द्वारा स्वरूपतः स्फुट नहीं होता। अभिनय से तो वह गम्य होता है, क्योंकि अवगमन शक्ति अभिनयन है, जो वाचक शक्ति से भिन्न है। इसीकारण भिन्न विभक्ति वाले 'स्थायी' पद को मुनि ने सूत्र में नहीं कहा है।"

अनुकार्य (राम) में विद्यमान उस स्थायी भाव का वह (नट) अनुकरण करता है। "उस (नट) से अनुकृत की जा रही रति 'शृङ्गार' है।" यह कहना ठीक नहीं कि रत्यादि का, नट में विद्यमान न होने के कारण उसका अनुमान भ्रान्त ही होगा और उससे रसानुभवात्मक उसका कार्य भी सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि मिथ्याज्ञान से भी अर्थ-क्रिया देखी गयी है, मणिप्रभा के दर्शन में दीप की भ्रान्ति से भी लक्ष्य की प्राप्ति का उदय होता है। अथवा यह भी समझना नहीं चाहिए कि यहाँ अनुमिति भ्रान्तिज्ञान ही है। और यहाँ नर्तक ही सुखी है ऐसा ज्ञान नहीं होता है, और न ही, राम है या नहीं है, ऐसी संशयात्मक प्रतीति होती है। अतः कहते हैं–

> प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः।
> धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि।।
> विरुद्धबुद्ध्यसंभेदादविवेचितसम्प्लवः।
> युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया।।इति।

न सन्देह की प्रतीति होती है, न यथार्थता की, और न भ्रान्ति की प्रतीति होती है, यह (नट) वह (राम) ही है, इस प्रकार की बुद्धि होती है और न यह (नट वास्तव में) वह (राम रूप) नहीं है, इस प्रकार की बुद्धि होती है।–

इसलिए विरुद्ध प्रकार की बुद्धियों के सम्मिश्रण के कारण पृथक् रूप से भ्रम आदि का निश्चय न हो सकने के कारण उस प्रत्यक्षात्मक अनुभव को किस प्रकार से (भय आदि रूप से)कहा जाय!

उत्पत्ति और अनुकृति, दोनों ही (भाव के) लौकिकत्व का निवारण नहीं करते हैं, और, प्रतीति और अनुमिति भी विषय के ताटस्थ्य पक्ष में रहते हैं।। ११।।

भट्टलोल्लट के मत से लोक में उत्पन्न भाव ही रस होता है, और अभिनय आदि से सामाजिक को उसकी प्रतीति होती है। शङ्कुक के मत से लौकिक भाव की अनुकृति ही अनुमिति का विषय बनने पर रस होता है। यहाँ यह प्रश्न करना चाहिए कि लौकिक भाव ही यदि रस है तो रसार्थी उसी में विश्राम कर ले, नाट्य के आयोजन का आयास वह क्यों करे? लौकिक भाव और रस के इस प्रकार अभेद होने पर लोक की पुनरुक्ति के कारण ही नाट्य व्यर्थ सिद्ध होगा। यदि भाव रस से भिन्न होगा तो भाव की अनुकृति भी रस से भिन्न ही होगी। यदि अनुकरण मूल का सादृश्य उपस्थापित करता है तो (अनुकरण) मूल की अनुस्मृति के लिए अथवा हास्य के लिए होगा। अभिनय द्वारा अनुकरण को प्रायः हास्य के लिए ही देखा गया है। यदि अनुकरण का प्रयोजन सादृश्य का उपस्थापन है तो उसका (सादृश्य के उपस्थापन का)भी प्रयोजन कहना चाहिए। सादृश्य का प्रयोजक है- तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्। मूल के दृष्ट और असन्निहित (=दूरस्थ) होने पर सादृश्य मूल की स्मृति का प्रयोजक होता है। अदृष्टमूल में सादृश्य उसके (मूल के) अभिज्ञान का साधन होता है। नाट्य में अनुकार्य रूप मूल कदाचित् इतिहास से अथवा आख्यान से प्राप्त हो, किन्तु वह किसी का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु सामान्य वर्णन में नियत उसका (मूल का) सादृश्य, यह राम है, यह दुष्यन्त है, इस अभिज्ञान का साधन है। और वह अभिज्ञान इतिहास, आख्यान आदि का स्मारक ही है। रामादि के अभिज्ञानमात्र से नट में साध्य कुछ रसान्वयी भी प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार नाट्य में प्रयुक्त सादृश्य न तो स्मृति के लिए है, और न ही अभिज्ञान के लिए है, क्योंकि अनुकार्य दृष्ट नहीं है, उसकी सत्ता कल्पनामात्र है। ऐसा नहीं कह सकते हैं कि नाट्य में प्रयुक्त सादृश्य चरिताख्यान अथवा जनाकृति के आलेख्य (चित्र) की भाँति कौशल से व्यञ्जित भाव रूप स्मरणीय विषय को प्रत्युपस्थापित करेगा; क्योंकि उस प्रकार का नाट्य इतिहास मात्र पर्यवसायी होगा। रस के व्यञ्जक होने की स्थिति में तो पुरुषविशेष का विषय होने पर भी, सरस चित्र की भाँति

सादृश्य का भावोद्बोधक बिम्ब वाला होना (सिद्ध होता है)। रेम्ब्रान्ट नाम के चित्रकार के चित्र तत्तत् पुरुष व्यक्तियों की आकृति और इतिवृत्त के संरक्षण के लिए सम्मानित नहीं होते हैं, न ही बुद्धचरित, हर्षचरित आदि अथवा शेक्सपीयरीय इतिहास-नाट्य घटित याथार्थ्य के निरूपक होने के कारण सम्भावित होते हैं। इससे (सिद्ध होता है)कि अनुकृति और सादृश्य, दोनों शब्द असामान्य अर्थ को ही कहते हैं, और वहाँ कोई विशेष अनुकार्य के रूप में विवक्षित नहीं है, किन्तु सामान्य रूप ही विभाव का विशेष जैसा रूप नाट्योपयोगी सम्भाव्य स्वभाव के होने के कारण भूतार्थ जैसा है यह सादृश्य का अभिधान है, न कि वहाँ वस्तुविशेष की अनुकृति के कारण। अनुकृति और सादृश्य, इन पदों से बुद्धिस्थ अर्थबिम्बात्मक सादृश्य विधान ही अभिप्रेत है।

"न चात्र नर्तक एव सुखी" इत्यादि द्वारा स्पष्ट समझना चाहिए कि शङ्कुकाचार्य ने सादृश्य को न्यायसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया है, अपितु स्मृति को उद्बुद्ध करने वाले कल्पित अर्थ में। और फिर, "प्रतिभाति न सन्देहः" इत्यादि से समझना चाहिए कि अनुमित से यहाँ न्यायसम्मत प्रमिति-विशेष के अर्थ में प्रयोग अभिप्रेत नहीं है, अपितु सादृश्यमूलक व्यञ्जक से अथवा सङ्केत से अप्रत्यक्ष का भी प्रत्यक्ष की भाँति ग्रहण होता है। रसानुभूति को लेकर ही आचार्य का वास्तविक अभिमत वैलक्षण्यपरक ही है, यद्यपि उसकी (रसानुभूति की) लौकिक भावात्मकता को छोड़ा नहीं है। इस कारण, विरुद्ध आभास वाले उनके मत का, भट्टतौत ने विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। रस की अनुकरणरूपता सामाजिक (=प्रेक्षक) की प्रतीति की अपेक्षा करके विवक्षित होगी, अथवा नट की, अथवा विवेचक की बुद्धि, अथवा भरत मुनि के वचन की अपेक्षा करके। पहला पक्ष असङ्गत है, क्योंकि नट के अभिनय द्वारा लक्ष्य जड देह-विकारों का रत्यादि चित्त-वृत्ति के रूप से अनुकरण का बोध असम्भव है। "ऐसे कोई नहीं हैं जिन्होंने पहले राम में रहने वाली रति को उपलब्ध किया हो, इससे राम का अनुकारी यह नट है, यह बात भी खण्डित हो जाती है। यदि मानते हैं कि नट के आकारों से, लोक की भाँति रत्यादि चित्तवृत्ति अवगत होती है, तो नटगत वह (रत्यादि चित्तवृत्ति) रति के आकार से ही ज्ञात हो गई, ऐसी स्थिति में रति के अनुकरण की वाचोयुक्ति (तर्क) दूर की

बात हो जाती है।" और यह नहीं कह सकते कि नट के विभावादि कृत्रिम होते हैं, अतः पारमार्थिक उनके अनुकार की प्रतीति होती है, क्योंकि कृत्रिम होने के कारण, अनुकार्य की प्रतीति का अनवबोध ही प्रसक्त होगा। यदि कहें कि कृत्रिम होने के कारण ही अतत्कार्य रूप विभावादि द्वारा अनुकार्य की चित्तवृत्ति से भिन्न उसकी अनुकृतिरूप कारणान्तर की प्रतीति होगी, तो ऐसा भी नहीं, जिसके कार्य रूप से विभाव अभिमत हैं वह उनसे अनुमेय है, अभिनीत कटाक्ष नट की चेष्टा से उत्पन्न रूप से यदि निश्चित होकर हैं तो वे रति का अनुमान नहीं कराएंगे; यदि रतिजन्य होने के कारण यदि भ्रान्ति से निश्चित होते हैं तो नट की रति को ही अनुमान का विषय बनाएंगे, न कि नटगत रति के अनुकार का। दोनों प्रकार से भी, रत्यनुकार अनुमिति का विषय नहीं है। अथवा उसका विषय रति अथवा कोई रतिभिन्न पदार्थ होगा।

आचार्य हेमचन्द्र ने भट्टतौत के आशय की इस प्रकार व्याख्या की है- "भाव यह है- प्रसिद्ध रति रूप कारण से, पृथक् कारण रत्यनुकरण है, यदि उससे उत्पन्न होते हैं तो अनुभाव होंगे; और जब उसी प्रकार विशेषज्ञ द्वारा ज्ञात होंगे तब रत्यनुकरण रूप वस्त्वन्तर का अनुमान समञ्जस होगा। ऐसा नहीं होता, तो रत्यनुकरण प्रतीति कैसे बनेगी? और, अविशेषज्ञ द्वारा उस प्रकार के अनुभाव का दर्शन होने पर, रति का ही अनुमान होगा, और वह मिथ्याज्ञान ही होगा। इस प्रकार सद् हेतु के द्वारा अथवा असद् हेतु के द्वारा दोनों स्थितियों में रति की ही प्रतीति होगी उसकी अनुकृति की नहीं।

'नट अनुकरण करता है' यह भी कथन ठीक नहीं, क्योंकि उसके द्वारा अनुकार्य पूर्व में उपलब्ध नहीं है। उत्तम-प्रकृति वाले अनियत का सामान्य रूप से ही अनुकार होता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ भी विशिष्टता के बिना, अनुकार्य का बुद्धि में आरोप सम्भव नहीं। रति, शोकादि से विशिष्ट विलाप करते हुए जिस किसी का (अनुकार) होगा तो वहाँ अनुकार्य-वर्ग से नट अपना निवारण कैसे कर सकता है? अपने में अन्तर्भावित कर लेने पर 'अनुकार्यानुकर्तृभाव समाप्त हो जायेगा।' नट शिक्षावश अपने विभाव के स्मरण से चित्तवृत्ति के साधारणीभाव द्वारा हृदयसंवाद से केवल अनुभावों को प्रदर्शित करता हुआ चेष्टा करता है इतने मात्र में इसकी प्रतीति अनुकार को नहीं जताएगी।"

यदि वस्तुतत्त्व का विवेचन करने वाली दृष्टि से प्रतीतिगत विषय का आकार बाह्यविषय के सदृश है, इस प्रकार उसके अनुकार रूप से प्रतिपाद्य हो तब भी असङ्गत होगा; क्योंकि "असंवेद्यमान वस्तु-वृत्तत्व की उपपत्ति नहीं बनेगी।" मुनिवचन का तात्पर्य अनुकारपरक है ऐसा भी व्याख्यान नहीं कर सकते।

वस्तुतः शङ्कुक के मत से रस की प्रतीति, चित्रतुरगादिन्याय से, सम्यक्, मिथ्या, संशय, सादृश्य- इन प्रतीतियों से विलक्षण ही है। भट्टतौत तो उसके खण्डन में सर्वथा ही द्वय (द्विधाविभाग) करने में प्रवृत्त रहे हैं। उन्होंने रसप्रतीति को सम्यक् प्रतीति और मिथ्या प्रतीति के रूप में विभक्त करके ही युक्तियाँ उपन्यस्त की हैं, इस कारण उनके द्वारा प्रस्तुत किया गया विमर्श तत्त्वावगाही नहीं है; क्योंकि शङ्कुक का मत प्रतीतिवाद से आरम्भ करके आभासवाद में ही विश्राम लेता है। विश्वाभासवाद को मानते हुए भी अभिनवगुप्तपाद ने जो शङ्कुक के मत का विस्तृत खण्डन अनूदित किया है वह अपने सम्प्रदाय में प्राप्त युक्ति के विन्यासवश ही है, ऐसा लगता है।

यहाँ 'चित्रतुरगन्याय' पर विचार की आवश्यकता है। रंग पट पर तुरग को आकृति से प्रतीत कराते हैं। और सम्यक् मिथ्या आदि (सादृश्य और संशय) प्रतीतियों से विलक्षण वह प्रतीति अपर्यनुयोज्य (=अनाशङ्कनीय) अनुभव के रूप में स्फुरित होती है। उसी प्रकार, विभावादि भी रस को आभासित करते हैं, यह शङ्कुक के मत का रहस्य है। किन्तु अभिनवगुप्तपाद उसका खण्डन करते हैं- "गौ के अवयव के सन्निवेश के सदृश सन्निवेश-विशेष से अवस्थित इस 'गो सदृश है' सिन्दूर आदि प्रतिभास के विषय हैं, इस प्रकार विभावादि-समूह रतिसदृशता की प्रतिपत्ति द्वारा ग्राह्य नहीं हैं। इसलिए भावानुकरण रस है, यह (विचार) ठीक नहीं।" यहाँ, विभावादि जड़ और भाव चित्तवृत्ति रूप है, इस कारण उनकी समानाकारता उन्हें अभिप्रेत नहीं है। वर्ण देश-काल में अवस्थित द्रव्यगुण के रूप में मूर्त द्रव्यान्तर के आकार के अनुकरण में समर्थ हो सकते हैं, किन्तु प्रत्यक्षगोचर विभावादि अपरोक्ष भावादि के आकार के निरूपण में समर्थ नहीं हैं, क्योंकि वे निराकार होते हैं, यह कदाचित् उनका (अभिनवगुप्त का) अभिमत हो। किन्तु यह विवेचन सम्यक् प्रतीत नहीं होता। पहले तो इससे (अभिमत से) चित्र और नाट्य का सर्वथा पार्थक्य

कर दिया जाता है। शास्त्रानुसार और सम्प्रदाय से भी चित्र से रस की प्रतिपत्ति विवेचकों द्वारा सम्मत है। यदि चित्र के उपादानभूत वर्ण स्थूल आकार के निरूपणमात्र में विश्रान्त हो जाते हैं, तो वहाँ रस की प्रतीति की कोई आशा नहीं। और फिर, 'आकार' शब्द से भौतिक वस्तुगत ही आकार ग्राह्य नहीं समझना चाहिए है। मनोवृत्तियों में भी क्रमात्मक और सम्बन्धात्मक आकार लक्षित होता ही है। इस प्रकार नाट्य-वस्तु का उन्मीलन भी (मुखादि) सन्धियों से अवच्छिन्न बुद्धि में प्रकार- विशेष का आधान करता है। और जिस विशेष से विषय बुद्धि के प्रकार को नियमित करता है उसें ही उसका आकार कहना चाहिए। ऐसा होने पर विषयमात्र में आकार की व्याप्ति समझनी चाहिए। जो कि 'व्यक्ति-आकृति-जाति पदार्थ है' ऐसा न्याय-सूत्र है, वहाँ व्यक्ति से उपादानकृत विशेष, जाति से अनुगत धर्म और आकार से विषयगत विशेष सूचित होता है, यह कल्पना की जा सकती है। वह जैसा भी हो, प्रत्यक्षाकार जड़ से चित्तवृत्ति अनेकधा व्यङ्ग्य होती है, यह निर्विवाद है। आकार का व्यञ्जकत्व, कभी सादृश्य को, कभी सम्बन्धान्तर को, कभी इच्छाकृत सङ्केत को लेकर कभी सहानुभूतत्व सम्बन्ध से प्रवर्तित होता है। व्यञ्जक आकार स्वभावनियत लिङ्ग नहीं होता, न ही स्वतः विषयाभिज्ञान का कारक हेतु है। सङ्केत, प्रतीक, प्रतिबिम्ब, संस्कारोद्बोधक आदि रूपों से आकार ज्ञात रूप से अनुपस्थित परोक्ष विषय को प्रत्यायित करते हैं, जैसे शब्द अर्थों को। यही उनका व्यञ्जकत्व है। तब भी अभिव्यञ्जन के प्रकार का द्वैविध्य प्रसिद्ध ही है। प्रथम प्रकार, जैसे चित्रों में तत्तत् विषय-रूप को आकार से शृङ्गग्राहिका से जैसा दिखाया जा सकता है। द्वितीय, जैसे नाना अर्थों वाले शब्दों द्वारा सङ्केत सम्बन्ध के कारण वाच्यरूप से अनेक अर्थ बोधित किए जा सकते हैं। चित्रादि में, चेतना, भाव, लावण्य आदि, अथवा काव्य में भाव, रसादि उस प्रकार बोधित नहीं किये जा सकते हैं। चित्त के अपरोक्ष भाव, प्रायः अभिहित होकर भी स्वरूपतया उतने मात्र से भासित नहीं होते हैं। ऐसे अर्थ की बोधिनीशक्ति पूर्वोक्त दोनों व्यापारों से भिन्न ही, शब्दों में और सङ्केतान्तरों में कल्पित की जाती है। उस प्रकार की पृथक्शक्ति की कल्पना के सद्भाव के कारण ही शङ्कुक का मत ध्वनिवादी अभिनवगुप्तपाद के लिए रुचिस्वारस्य उत्पन्न नहीं करता, ऐसा लगता है।

दूसरा भी, सांख्य की दृष्टि से, रस-सूत्र का व्याख्यान 'अभिनवभारती' में उद्धृत उपलब्ध होता है। वहाँ, कहा है- "सुख-दुःख स्वभाव को उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त विषय-सामग्री बाह्य होती है, इस सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार, रस सुख-दुःख स्वभाववाला है। और उस सामग्री में दलस्थानीय विभाव और उनके संस्कार करने वाले अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव होते हैं। और, स्थायी तो सामग्री से जन्य आन्तरिक सुख-दुःख-स्वभाव हैं, ऐसा कहा गया है।" अभिनवगुप्त ने मुनि(भरत)-वचन के विरोध के कारण ही इस मत को निकाल बाहर कर दिया है। भाव और रस का विवेक मुनि ने किया है इसे मानना चाहिए । तब भी वह विवेक वहाँ आत्यन्तिक नहीं माना गया है। सांख्य के व्याख्यान की युक्ति, लगता है भरत द्वारा उक्त दृष्टान्त का अनुसरण करती है। तथापि भाव सुख-दुखस्वभाव वाले ही रस हैं, सर्वथा आनन्दस्वरूप ही नहीं, यह मत उक्त काल में सबको स्वीकार्य नहीं था। जैसे रामचन्द्र-गुणचन्द्र के 'नाट्यदर्पण' से समझा जाता है। किन्तु पाश्चात्य-परम्परा का अनुसरण करते हुए आधुनिक विद्वान् सुख-दुःख स्वभावता को ही प्रायः समर्थन करते हैं। लोकानुभव ही यहाँ भावमुख्य रूप से शब्दाभिनय आदि से रचना-विशेष में रूपान्तरित होकर दृष्टि-विशेष से सङ्गतरूप से और समग्र रूप से रसिकजनों के चित्तों में आभासित होता है।

इन तीनों मतों में, लौकिक भाव ही काव्य, नाट्य आदि से अवगमित होकर रस होता है। रस के दो पक्ष यहाँ विचारणीय रूप से प्राप्त हैं। प्रथम पक्ष-रस की लौकिक भावात्मकता सुख-दुःख से मिली-जुली होती है। और दूसरा पक्ष है- शब्दाभिनय आदि से कौशलविशेष के द्वारा अविद्यमान अर्थ की स्फुटाकार रूप से प्रतीति ही रस है। सामाजिकों में, लौकिक सुख-दुःखता को छोड़कर भाव कैसे रस रूप में परिणत होते हैं? और प्रतिबिम्बमात्र उपस्थित, लोक सार्थक और स्वायत्त की भाँति कैसे प्रत्यक्षायित होता है? और वह कौन सा कौशल है, जिससे माया से जैसे लोक और लौकिक भाव लोकोत्तर और आस्वादघन रूप व्यक्त होता है, इत्यादि विचार पूर्वाचार्यों ने किया भी हो, तो अब उपलब्ध नहीं होता। नाट्य में लोकवत् वृत्त और लोकवत् भाव, चेष्टादि दिखाई देते हैं, उन्हें देखते हुए, उनमें लीन चित्त वालों की चित्तवृत्तियों का अनुव्यवसाय होता

है, यह प्रायः निश्चित ही है। तथापि यहाँ पर लोक जैसा अनुभव किये गये सुख का क्रमशः मन्द होते जाना नहीं होता अथवा दुःख का तत्काल प्रतीकार की अपेक्षा के कारण सह्यता से तीव्र उद्वेगकारिता नहीं होती और न श्रम तथा मोह होता है और न आत्मीय रूप से अभिमत स्मृति-संस्कार का अर्जन होता है। प्रत्युत-

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति।।

"नियतिकृत नियमों से रहित, ह्लादैकमयी, अनन्यपरतन्त्रा, नवरसों के कारण रुचिर निर्मिति का आधान करती हुई कवि की वाणी सर्वोत्कृष्ट है।"

इस प्रकार रसानुभूति का लोक से वैलक्षण्य प्रसिद्ध है।

साधारणीकरण, जो नाट्य को लोक से भिन्न करता है, यह जो आचार्य भट्टनायक का कथन है वह प्रायः सर्वसम्मत है।। १२।।

और, भट्टनायक ने इस वैलक्षण्य का हेतुपूर्वक सम्यक् प्रतिपादन किया है। "न तटस्थता से और न स्वगत रूप से रस की प्रतीति, उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है। अपितु काव्य और नाट्य में अभिधा से द्वितीय (अनन्तरभावी), विभावादि का साधारणीकरण करने वाले भावकत्व व्यापार द्वारा साधारणीक्रियमाण स्थायी भाव, सत्त्व के उद्रेक से प्रकाश और आनन्दमयी संविद् में विश्रान्ति-स्वरूप, भोग व्यापार द्वारा भुक्त होता है।" यह यहाँ अभिप्रेत है- यदि रस की उत्पत्ति को सामाजिक में स्वीकार करते हैं तो सीतादि के प्रति उसका (सामाजिक का) कामित्व होगा, और करुण की उत्पत्ति में दुःखोद्वेग होगा, आत्मगत रूप से प्रतीत होने पर भी समान दोष सामने स्फुरित होगा। यदि परगत रूप से, तटस्थ रूप से प्रतीति होती है तो रसनीयत्व का अभाव ही हो जाएगा। आत्मीय रूप से और परगत रूप से अनवधारित ही विभावादि को समझना होगा इस साधारणीकरण रूप व्यापार को भट्टनायक 'भावकत्व व्यापार' कहते हैं। और, वह अभिधा से द्वितीय है 'इस कथन से अभिप्राय है कि वह अभिधा और लक्षणा से भिन्न ही है। जैसा कि काव्य और नाट्य में प्रस्तुत अर्थ साधारण रूप से भाव्यमान होकर ही रस को अर्पित करते हैं। उन साधारणीकृत विभावादि

के भाव्यमान होने पर स्थायी सत्त्वोद्रेक से आनन्दमय प्रतीत होता है और यह भोगीकरणव्यापार कहलाता है।

लोक में, प्रणयी जनों अथवा विद्वेषिजनों की चेष्टाओं को देखता हुआ व्यक्ति किसी रस का आस्वादन नहीं करता, न ही परोक्ष-घटित उस प्रकार के वृत्त का अनुमान करते हुए को भी रस उपलब्ध होता है। और "शब्द और अनुमान आदि से रस की प्रतीति मानने पर प्रत्यक्षादि के समान लोक की सरसता मानना ठीक नहीं है। प्रत्युत नायकयुगल के अवभास में लज्जा, जुगुप्सा स्पृहा आदि स्वोचित अन्य चित्तवृत्ति के बीच में उदय की व्यग्रता के कारण कौन सी सरसत्व की बात होगी? अतः, रस की प्रतीति अनुभव, स्मृति आदि रूप है यह मानना ठीक नहीं।" और ऐसा भी नहीं कह सकते कि उत्पत्ति और प्रतीति के अभाव में रस की अभिव्यक्ति को इष्ट समझा जाए; क्योंकि अभिव्यक्ति में विषय का क्रम से उन्मीलन का प्रसङ्ग प्राप्त हो जाएगा।

यहाँ यह समझना चाहिए, व्यञ्जकत्व व्यापार की पहले कल्पना स्फोटवाद के समर्थन के लिए वैयाकरणों ने की। यह अन्य लोगों ने भी स्वीकार किया। घट-दीप न्याय से प्रायः व्यङ्ग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध उदाहृत हुआ- "स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः। यथा दीपोऽन्यथाभावे" इत्यादि द्वारा। मीमांसकों और बौद्धों ने स्फोटवाद और व्यक्तिवाद के खण्डन में, यह 'विषयार्जनतारतम्यापत्तिः' उठायी। वेदान्तियों द्वारा स्फोटवाद का खण्डन किये जाने पर भी, व्यक्तिवाद का ही आश्रय लिया गया। और वहाँ व्यङ्ग्य का पृथक् अस्तित्व अथवा क्रमोन्मीलन अनिवार्य रूप से अपेक्षित नहीं होता है। जहाँ वर्ण स्फोट को व्यञ्जित करते हैं वहाँ व्यञ्जक के नियतक्रम होने के कारण, व्यङ्ग्य में भी नियत क्रम का प्रसङ्ग उठ खड़ा होगा। दीपक द्वारा घट के व्यङ्ग्य होने पर समान प्रदेश होने के कारण क्रम की आपत्ति है, किन्तु 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य के ज्ञान से व्यङ्ग्य आत्मा में अखण्ड अर्थ की क्रमरहित ही अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार भट्टनायक के अभिव्यक्तिवाद का खण्डन थोड़ा दिखाया गया है, और आपत्तियों के परे (विमर्दसह) नहीं है।

और जो कि उनके (भट्टनायक के) द्वारा किया गया भट्ट लोल्लटादि के पक्ष का खण्डन है उसे अभिनवगुप्तपाद ने 'अशक्य-परिहार' ही कहा

है। तथापि भट्टनायक का भुक्तिवाद युक्तियुक्त नहीं है। "प्रतीति आदि से अलग, संसार में भोग क्या है, हम नहीं समझते।" यदि भुक्ति रसास्वाद ही है, तो वह (रसास्वाद) भी प्रतिपत्ति रूप ही है, इस प्रकार उसका प्रतीति से वैलक्षण्य कैसे है? "दर्शन, अनुमिति, श्रुति, उपमिति, प्रतिमान आदि नामान्तर की भाँति"। जैसा कि "निष्पादन और अभिव्यक्ति-दोनों के स्वीकार न करने पर रस या तो नित्य होगा अथवा असत् होगा, तीसरी गति नहीं होगी।" दोनों स्थितियों में अविषय की उत्पत्ति, प्रतीति और व्यक्ति की व्यवहारायोग्यता होगी।

यदि चित्त की द्रुति आदि (द्रुति-दीप्ति-विकास) अवस्थाएं ही भोगीकरण रूप से अभिमत हैं तो वह सच होने पर भी यह रस के स्वरूप का सम्यक् बोध नहीं कराता, क्योंकि रसों का नानात्व तीन ही चित्तावस्थाओं से सम्पाद्य नहीं है। क्योंकि जितने ही रस हैं उतनी ही भोगीकरण स्वभाव वाली रसनात्मक प्रतीतियाँ हैं। और, गुणों के अङ्गाङ्गिवैचित्र्य का अनन्त कल्पन होगा, इस कारण तीन की संख्या कैसी सीमा है?"

जो कि भट्टनायक ने रसों को 'भावनाभाव्य' ऐसा कहा है, उसका सम्यक् व्याख्यान किया है वह सब अभिनवगुप्त ने माना ही है। भावना यदि विभावादि के तन्मयीभाव द्वारा अभिप्रेत अर्थ की आस्वाद्यता का आपादन है, तो रस की उसकी (भावना की) विषयता स्वीकार्य ही है। जैसा कि उद्धृत है-

भावसंयोजनाव्यङ्ग्यपरसंवित्तिगोचरः ।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते।।
संसर्गादिर्यथा शास्त्र एकत्वात्फलयोगतः।
वाक्यार्थस्तद्वदेवात्र शृङ्गारादी रसो मतः।।

भावसंयोजना से व्यङ्ग्य, जो परसंवित्ति का विषय है, आस्वादनास्वरूप आत्मानुभव है वही रस काव्यार्थ कहा जाता है।

अन्यत्र भी-

जैसे शास्त्र में एकत्व के फलयोग से संसर्गादि वाक्यार्थ होते हैं उसी प्रकार यहाँ शृङ्गारादि को रस माना गया है।

और, फिर 'व्यक्तिविवेक' में ही रसनापरपर्याय भोग की ब्रह्मानन्द से तुल्यता का वचन उद्धृत है। जैसे,

पाठ्यादथ ध्रुवागानात् ततः सम्पूरिते रसे।
तदास्वादभरैकाग्रो हृष्यत्यन्तर्मुखः क्षणम्।।
ततो निर्विषयस्यास्य स्वरूपावस्थितौ निजः।
व्यज्यते ह्लादनिष्यन्दो येन तृप्यन्ति योगिनः।।

"पाठ्य और ध्रुवागान से रस के पूर्ण होने पर उसके आस्वाद भर से एकाग्र (सहृदय) अन्तर्मुख होकर क्षण भर आनन्दित होता है। तब अपने विषयशून्य होने पर निर्विषय यह जब स्वरूपावस्थित होता है तब उसका अपना आह्लाद का रस व्यक्त होता है, जिससे योगी लोग तृप्त होते हैं।"

और न ही ब्रह्मानन्द और रस का अभेद है। क्योंकि कहा है-

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद् बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः।।

"वाणी रूपी धेनु बछड़े के प्रति स्नेह से जो इस रस (दूध) को देती है उसके समान वह नहीं है, जिसे योगी लोग दुहा करते हैं।"

अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतिरेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती ततः।।
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो मतः।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान् नरः।।

इस प्रकार, भट्टनायककृत व्याख्यान का यह निर्गलित-अर्थ हेमचन्द्र ने उद्धृत किया है-

(१) अभिधा (२) भावना (३) उसका भोगीकरण (भोगव्यापार) शब्दालंकार और अर्थालंकार तो अभिधा के विषय ही बनते हैं। उसके बाद-

दूसरे भावनात्मक व्यापार से जो भावित होता है वह शृङ्गारादि समूह भी उसका भोगीकरण रूप सिद्धियुक्त पुरुषों के द्वारा विशेष रूप से अनुभव किया जाता है।

यहाँ तीन प्रतिपत्तियाँ हैं- उत्पत्ति और प्रतीति के योग के अभाव के कारण रस लौकिक भावों से विलक्षण है, भावना से विभावादि का साधारणीकरण होता है और भोग-व्यापार द्वारा रस भुक्त होता है। यहाँ प्रथम प्रतिपत्ति दोषरहित है। दूसरी प्रतिपत्ति साधारण्य का सम्यक् निर्देश करती हुई भी भावना के स्वरूप को विशद नहीं करती। तीसरी (प्रतिपत्ति) तो पुनरुक्ति के पंक से नहीं उबरती। तात्पर्यार्थ की भाँति वाक्य से रस अवगत होता है, आत्मा की भाँति, अन्तर्मुख चित्त से अपरोक्षीकृत होता है, इस प्रकार आचार्य का रसतत्त्व के रहस्य का ज्ञान उजागर होता है। तथापि वह शब्द की कौन सी शक्ति है जिससे रस संवेद्य होता है, इसे ध्वनि-विरोधी आचार्य ने स्पष्ट प्रकाशित नहीं किया है।

अभिनवगुप्तपाद ने ध्वनिवाद का अवलम्बन करके, संविद्-विश्रान्ति-रूप, रस का परमतत्त्व प्रकाशित किया है।। १३।।

भावोल्लेखी रूप से लोक प्रतिबिम्ब के रूप में स्फुरित होता है और भाव अनावरण-संविद् का साक्षाद् विषय है।। १४।।

अभिनवगुप्तपाद ने प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए भट्टनायक के द्वारा किये गये सूत्रपात का परिष्कार और परिवर्धन किया। लोक से वैलक्षण्य उत्पन्न करने वाला साधारण्य क्या है? वर्ण्य विषय के विशेषणीभूत देश और काल का, स्वगत और व्यावहारिक देश-काल का तथा काव्यादि विषय के प्रमाता और सामाजिक दोनों के लोकसिद्ध याथात्म्य का स्थगन ही है। शाकुन्तल का प्रेक्षक अपने व्यावहारिक लोकसिद्ध याथात्म्य का स्मरण नहीं करता- "यह मैं राजा का अमात्य बहुत कार्यकलाप वाला, क्रोधी स्त्री की भर्त्सना से डरने वाला" इत्यादि, उसका शकुन्तला के विषय में परमार्थतः यह कोई स्त्री समुपस्थित है ऐसा प्रत्यक्षमूलक सुनिश्चत ज्ञान नहीं होता है। नाट्योपदर्शित शकुन्तलादिविषय और नाट्य का प्रेक्षक स्व-स्वव्यवहार से सिद्ध रूपों से गोचित होकर भावालम्बन के आश्रय रूप से ही आकार की भाँति चैतसी भूमि का अवगाहन करते हैं। सामाजिक दुष्यन्तनिष्ठ आश्रय वाली, शकुन्तला-विषयिणी रति का साक्षी होकर रहता है। और यह भाव-साक्षात्कार ही रस है। वहाँ विषय और प्रमाता का साधारण्य सीमित नहीं, अपितु असीम ही है। जैसे व्याप्ति के ग्रहण में विशेष सब को सामान्य का अवगमन कराते हैं

उसी प्रकार यहाँ भी सभी सामाजिक व्यापक भावतत्त्व का ही साक्षात्कार करते हैं। और कहा है- "वस्तुसत् काव्यार्पित देश, काल, प्रमातृ आदि नियम-हेतुओं के, अन्योन्य प्रतिबन्ध के बल से अत्यन्त अपसरण होने पर वही साधारणीभाव अत्यन्त पुष्ट होता है। अतएव सभी सामाजिकों को, एकघन रूप से ही सुतरां रस-परिपोष के लिए प्रतिपत्ति होती है, क्योंकि अनादि वासना के कारण भिन्न-भिन्न चित्तवृत्तिवाले सभी सहृदयों का भी वासना-संवाद हो जाता है।"

इस प्रकार (सामाजिक/रसिक) उस भाव का रस रूप से साक्षात्कार करता है, जो लौकिक प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान-अभिधान आदि प्रमाणों का अविषय किन्तु भावना का विषय तथा वितत साधारण्य द्वारा लक्षित होता है। यहाँ भावना मीमांसकों की प्रसिद्ध भावना नहीं है, और न ही योगोपासनादि में प्रसिद्ध, भाव्य के चित्त में पुनः पुनः अनुसन्धान के तुल्य तदभिन्न है । यहाँ चित्त का प्रयत्नपूर्वक ऐकाग्र्यकरण ही विवक्षित नहीं है। काव्य-भावना में अर्थ की महिमा से स्वयमेव चित्त उसका (रस का) अनुसन्धान करता हुआ तन्मयीभाव को प्राप्त होता है। भावना मानस-प्रत्यय की प्रवाहात्मिका कल्पना ही है जो भाव-सौष्ठव को स्वच्छन्द रूप से विशद आकारों से जोड़ती है।[२] क्योंकि, कवि शकुन्तलादि विषयों को प्रत्यक्ष करके उनके इतिवृत्त की भाँति काव्य का निबन्धन नहीं करता, अपितु कल्पनोपदर्शित ही स्वानुभूत भाव को, अथवा कुछ के मतानुसार, योग्य आकारों से विभावादि से संयोजित करके सहृदयों की भावना के लिए उपन्यस्त करता है।

इस भावना का काव्यशब्दों और नाट्याभिनयादि से क्या सम्बन्ध है, यह विचारणीय है। शब्दों में इच्छाजन्य रूढ़िमूलक अर्थसङ्केत की शक्ति प्रसिद्ध ही है, उसी प्रकार अभिनयादि में सादृश्यमूलक और रूढ सङ्केत अर्थ का प्रत्यायक होता है। रूढ संकेतों से उपलब्ध अर्थ निश्चित होता है, बाद में अपने संकेत-विशेषों को छोड़कर, स्वरूपतः जैसे बुद्धि में स्थिर होता है, लोक में अन्य संकेतों से भी वह (उपलब्ध अर्थ) प्रकाशनीयता के योग्य होता है।

'पाटलिपुत्र नाम का एक नगर था' इसे सुनकर पाटलिपुत्र नगर के अस्तित्व को जानकर उसका चिन्तन करता हुआ (व्यक्ति) उसी वाक्य की,

मन में आवृत्ति नहीं करता है। किसी 'जातक कथा' को सुनकर, उसके अभिप्राय को जानकर, उस कथा के वाक्य के निरपेक्ष ही उसके अभिप्राय का विचार करता है। काव्य और नाटक की गति भिन्न ही होती है। वहाँ श्रुत शब्द अथवा प्रत्यक्षीकृत अभिनय विशेष रूप से अविश्लेष्य अर्थ-सन्तति को जैसे ध्वनित करते हैं। और, अपने संकेत का आश्लेष करने वाला वह भावनासंश्लिष्ट अर्थ स्वानुसन्धान रूप भावना को उत्पन्न करता है। जैसे-जैसे काव्य-शब्द भावित होते हैं वैसे-वैसे शब्द-भावना को न छोड़ती हुई उसके (शब्द के) अर्थ की महिमा भूमा की भाँति फैलती है। यही शब्दों में शक्ति है, जिसे तत्त्वतः व्यञ्जना अथवा ध्वनि कहा जा सकता है।[३] किन्तु स्वरूपतः यह व्यापार केवल मात्र शब्दों में नियत नहीं है। चित्रों, प्रतिमाओं और संगीत में प्रत्यक्ष गृहीत रूप, ध्वनि आदि स्वाकार की योजना से भावप्रवण भावना को उत्पन्न करते हैं। अतएव भोजराज ने 'शृङ्गारप्रकाश' में चित्रादिकलाओं को उद्दीपन-विभाव में परिगणित किया है। और कविकुलगुरु का वचन 'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्' इत्यादि रूपादिगत इसी व्यञ्जकत्व व्यापार का प्रमाण है। यही व्यापार शब्दादि से प्रवृत्त और भावना का प्रवर्तक है। विभावादि का निरूपण इसी का प्रपञ्च है।

अभिनवगुप्तपाद ने रस को अविघ्ना संवित् और चमत्कारिणी कहा है। और चमत्कार का लक्षण 'तृप्ति के अव्यतिरेक से अविच्छिन्न भोगावेश', ऐसा कहा है। 'भोग करते हुए और अद्भुत भोग के स्पन्द से आविष्ट का चमत्करण ही चमत्कार है।' और "ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी" में आचार्य ने कहा है- 'चमत्कारिता भुञ्जानरूपता, स्वात्मविश्रान्तिलक्षणा सर्वत्र इच्छा-'; कहीं (वह इच्छा) अनागूरित (अनाकलित) विशेष होकर राग है, कहीं आगूरित (आकलित) विशेषा काम है, कहीं अभिलाषमात्र है, जैसे पूर्वोद्धृत कालिदासीय पद्य में। और वह 'साक्षात्कारस्वभाव, अथवा मानस-अध्यवसाय, सङ्कल्प, अथवा स्मृति में अथवा उसी रूप में स्फुरित होता है।' फिर यह रसास्वाद ही 'प्रतिभान इस रूप में शब्दान्तर द्वारा कथित साक्षात्कारस्वभाव है' यह कहा गया है। और यह आस्वादरूपा प्रतीति, "न लौकिकी, न मिथ्या, न अनिर्वचनीय, न लौकिक प्रतीततुल्य, न उस पर आरोपित रूपवाली है।" और जो विषय-सामग्री रसप्रतीति में उसके आलम्बन रूप से प्रतीत होती है, वह भी उससे बाह्य है, ऐसा नहीं समझना

चाहिए। क्योंकि प्रत्यभिज्ञादर्शन में, विज्ञानवाद की भाँति, विषय प्रकाश से अभिन्न आभास ही समझे जाते हैं। व्यवहार में वस्तुतत्त्व वही हो, अथवा नहीं हो, काव्यादि में, रस की प्रतीति में उसी प्रकार का प्रतीतिसार प्रतीत होता है। और इस प्रकार "सर्वथा रसनात्मक, निर्विघ्न प्रतीति द्वारा ग्राह्य भाव ही रस है।"

इस प्रकार यह प्रतीति "चमत्कार, निर्वेश, रसना, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति शब्दों से अभिहित होती है।"

और, यहाँ (रस-प्रतीति में) सात विघ्न बताये गये हैं- १. 'प्रतिपत्ति में अयोग्यता, अर्थात् सम्भावना का विरह;' २. 'स्वगतत्व और परगतत्व के नियम से देश-विशेष और काल-विशेष का आवेश;' ३. 'निज सुखादि के विवश होने का भाव;' ४. 'प्रतीति के उपाय का वैकल्य;' ५. 'स्फुटत्व का अभाव;' ६. 'अप्रधानता,' और ७. 'संशय का योग।'

प्रथम विघ्न के विषय में, स्मरण रखना चाहिए कि भट्टनायक ने देवतादि के चरित में, समुद्रलङ्घनादि में साधारणीकरण की असम्भाव्यता की शङ्का की है। यहाँ, अभिनवगुप्त ने, अलोकसामान्यों के विषय में प्रख्यातवस्तुविषयता का नियम ग्रहण करना चाहिए, यह उत्तर दिया है। यवनाचार्य का वचन भी स्मरणीय है, 'अघटित भी वृत्त सम्भाव्य होने से उपादेय है, नकि घटित भी असम्भाव्य (उपादेय है)।' समुद्रलङ्घनादि घटितवृत्त भी जो असम्भाव्य है, वहाँ सामाजिकों को इतिहास और प्रसिद्धि से प्रत्यय (विश्वास) हो जाता है। क्या सम्भाव्य है और क्या असम्भाव्य, इस सम्बन्ध में नाना युगों में प्रत्यय भिन्न ही होते हैं। और कवि द्वारा निर्णय अपने युग की निरपेक्षता से नहीं किया जा सकता।

द्वितीय और तृतीय विघ्न भाव के आलम्बन और आश्रय के साधारणीकरण को ही नष्ट कर देते हैं। चतुर्थ (विघ्न) प्रतीति के स्फुटत्व का विरोधी अशक्ति रूप है। पञ्चम (विघ्न) अस्फुटत्व अशक्ति का फल ही है, "जिसके लिए अभिनय लोकधर्मिप्रवृत्ति की वृत्ति से उपस्कृत होकर समभिषिक्त होते हैं, क्योंकि अभिनयन शब्दसहितलिङ्गव्यापार के विसदृश ही प्रत्यक्ष व्यापार जैसा है।" षष्ठ विघ्न अप्रधानता है जो भावातिरिक्त, जड, विभावानुभाववर्ग और अन्य मुखापेक्षी व्यभिचारीभावों का मुख्यतया

निरूपण है। संविद् रूप स्थायी भाव ही चर्वणा का पात्र है। सप्तम (विघ्न) विभावादि सामग्री के असम्यक् प्रयोग से ही उद्भूत होता है। अभिनवगुप्तपाद द्वारा निरूपित रस अलौकिक होकर भी त्रैलोक्य के भावानुकीर्तन के कारण पुरुषार्थ-संहित होता है, अकार्य होकर भी विभावादि से व्यङ्ग्य होता है, अज्ञाप्य होकर भी संवेदन से सिद्ध होता है, उसमें सविकल्पक और निर्विकल्पक का भेद नहीं होता, सभी सहृदयों के संवाद वाले साधारण्य से स्वाकार की भाँति अभिन्न होकर भी विषयीकृत होता है, (आस्वाद्यमानता) ही एकमात्र उसका प्राण है, भाव-साक्षात्कारात्मक चमत्कारी वह (रस) ब्रह्मास्वाद जैसा अनुभव कराता है। इसी अभिप्राय को साहित्यदर्पणकार ने स्पष्ट प्रकाशित किया है-

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।।
लोकोत्तरचमत्कारप्रायः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।।

(रस सत्त्वोद्रेक के कारण अखण्ड प्रकाशानन्द चिन्मय, वेद्यान्तर के स्पर्श से रहित, ब्रह्मास्वाद का सहोदर, लोकोत्तरचमत्कारप्राय होता है। तथा किन्हीं प्रमाताओं द्वारा स्वाकार की भाँति अभिन्न रूप से यह आस्वाद का विषय बनता है।)

और यह विभावादि समूहालम्बनात्मक है-

रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत्।
ततोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिध्यति।।

(रस जिस कारण, रत्यादि के ज्ञान के तादात्म्य से होता है, उस कारण इसका स्वप्रकाशत्व और अखण्डत्व सिद्ध होता है।।)

इस प्रकार रस संविद्विश्रान्ति रूप, भावसाक्षात्कार द्वारा आहित विलक्षण आस्वाद वाला, विभावादिसमूहालम्बनात्मक और उससे अभिव्यक्त होता है। और व्यक्त होना अर्थात् व्यंजना का विषय होना और चैतन्य का विषय किया जाना होता है। विभावादि के व्यापार द्वारा भग्नावरण चित् ही अन्तःकरण के धर्म स्थायिभाव को अपने प्रकाश से

प्रकाशित करती हुई साक्षात्कार करती है। इससे निष्कर्ष निकला- भग्नावरण चैतन्य विशिष्ट रति आदि स्थायीभाव ही रस है। स्वाभासमय भी विश्व को न समझती हुई, जाड्य से आहत चिति सीमित प्रभातृ-भाव को धारण करती हुई, सुखदुःखात्मक भोग-चक्र में भ्रमण करती हुई, सौभाग्य से साधारण्य के प्रतिभान वाली, सहृदयता की प्राप्ति से, व्यञ्जक भग्न आवरणवाली, स्वाकार की भाँति, भावलोक का साक्षात्कार करती हुई अपने में विश्रान्ति- लाभ करती है। कवि और सहृदय में प्रतिभाओं का मूल समान ही होता है। कहा भी है- कवि सामाजिक के समान ही है।" और भी, "कविगत साधारणीभूत संवित् ही परमार्थतः रस है।" कविगत प्रतिभा ही, साधारण्य के कारण, विभावादि विषयों के आकारों को प्रतिबिम्बित करती हुई, उनसे संलग्न भाव-लोक को विवृत करती है। और संविन्मय सहृदय उसी भावमय लोक का साक्षात्कार करता है।

अभिनवगुप्तपाद के रस-विवरण का अतिशायित्व (=श्रेष्ठ होना) निर्विवाद है। तथापि उनका भाव-विवरण विचार की अपेक्षा करता है; क्योंकि भाव को अपने अन्तर्गत करता हुआ रस अलौकिक है, किन्तु लौकिकभावजन्य भी है और ज्ञाप्य भी। कैसे यह भाव अलौकिक रस में अन्तर्भूत हो जाता है? यदि भाव की रस्यमानता ही रस है तो यह रस्यमानता क्या है? क्या भाव का विकारविशेष है, अथवा प्रतीतिविशेष ? प्रथम पक्ष (मानने पर) रस को जन्य होना चाहिए, द्वितीय पक्ष (मानने पर) प्रतीति के विषयावच्छिन्न होने के कारण और विषय के लौकिक होने के कारण रस भी लौकिक हो जाएगा। यदि रस्यमान भाव साधारणीकृत आकारमात्र से उपस्थित अलौकिक भाव है तो उसका भी लौकिक भाव से सम्बन्ध निर्वचनीय है। साधारणीकृत भाव के, आकारमात्र, तत्त्वमात्र अथवा कल्पित होने पर भाव की अपरोक्ष स्फुटता और सुखादिरूप से संवेद्यता या तो विगलित हो जाए या विकल्पमात्र या व्यावृत्तिमात्र रह जाए। रसन (रसनास्वादन) भी यदि यथाभूत साक्षात्कार है तो उसमें आस्वाद्यता क्या है? आस्वाद होने पर वह लोकतुल्य ही होगा। और अलौकिक होने पर इसकी लोक में उपयोगिता कहाँ रहेगी ? यहाँ दुःखी लोग कैसे प्रवृत्त होंगे? यदि रस संविद्विश्रान्ति है तो कैसे भाव का साक्षात्कार अथवा उसका आस्वादन होगा? अथवा कैसे विभावादि द्वारा उसका चिदावरणभङ्ग ही हो

सकेगा ? अथवा रसास्वाद कैसा है, शुद्ध आनन्द रूप, शान्तिरूप, सुख-दु:खात्मक, एक अथवा अनेक है? अभिनवगुप्त के मत से, रस संवित् से अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि वह आत्मपरामर्श रूप है। भाव इस आत्मपरामर्श में, उपाधि की भाँति वैचित्र्य का उपरञ्जक है। साधारणीकरण के कारण स्वच्छ आभा वाले भाव के द्वारा आच्छादित ही यह संवित् अपना विमर्श करती है। साक्षात्कार का विषय होने के कारण भाव साक्षात्कारिणी संवित् का स्वरूपभूत नहीं है। साक्षात्कार का विषय होने के कारण ही तो वह संवित् क़ा अत्यन्त निकटवर्ती है। इस प्रकार, रस लौकिक सुख और चिदानन्द का आन्तरालिक है। भाव भी चित्त का धर्म होने के कारण, बाह्य विषय की भाँति न जड है, और न ही शुद्धचिदात्मक। चिद्भास्य तो विषय के, जड़ता की प्रतीति से अनभिभूत होने पर और साधारणीकृत होने पर विमल चित्त में वासनायुक्त आत्मा वाले का स्वभाव की भाँति अपरोक्ष भासित होता है, जैसे दृष्टान्त के रूप में सनातन इतिवृत प्रतिबिम्बित होता है। वासनात्मक भाव, आत्मा और अनात्मा की ग्रन्थि के सदृश है। बाह्यविषयों में अनुधावन का प्रवर्तक वह (भाव) कर्मसंश्लिष्ट लौकिक, जन्य और ज्ञाप्य होता है, आवेग रूप वह मनोविज्ञान का विषय बनता है। तात्पर्य यह है कि विमलप्रतिभाशाली, प्रत्यङ्मुख चित्त में साधारण आकार के रूप में, व्यावहारिक देश-काल-प्रमाता से अनालिङ्गित भाव व्यक्त अर्थात् साक्षात्कृत होता है। (वह भाव) लौकिक नहीं है, ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि लोक-सिद्ध कर्म और ज्ञान के भोग से भिन्न है; साधारण्य के कारण कर्मयोग्य नहीं है, व्यङ्ग्य होने के कारण उत्पाद्य नहीं है, अपरोक्ष होने के कारण ज्ञाप्य नहीं है। मनोभूमिमात्र में व्यक्त आकार वाला, विषयाकार के उपस्थापक विभावादि समूहालम्बन रूप, वासनाक्षिप्त लोक के प्रतिबिम्ब का समर्पक रसान्तर्भूत भाव उसकी विषयिता से अवच्छिन्न संवित् को भी प्रतिबिम्बित करता है।

इस प्रकार वासनात्मक चित्तधर्म स्वरूप भाव विमल बुद्धि में आकार रूप से प्रतिभासमान होकर, जीव के स्वभाव को उसके इष्ट-अनिष्ट आकार के प्रतिबिम्बन के कारण अपरोक्ष बनाता है।[४] और, रस कल्पित विषय के आस्वाद के विवेचन से उपरंजित होकर, संविद्विश्रान्ति रूप तथा शम-स्वभाव वाला है। और, संवित् तथा लोक में यहाँ पारमार्थिक भेद नहीं हैं,

क्योंकि विश्व ही संविद् का आभास रूप है। रसानुभव में, संवित् से, तत्काल अज्ञान की आंशिक निवृत्ति होती है, जिससे इसका (संवित् का) प्रत्यङ्मुखत्व स्वरूप शान्ति का आभास और लोकजाड्य का तिरस्कार सा लक्षित होता है। इस प्रकार रस भावबोध से संवलित आत्मबोध रूप है। वहाँ विषयबोध इष्ट-अनिष्ट आकार वाला प्रतिबिम्ब जैसा होता है, जिसमें आत्मा भी विषयकल्पनोन्मुख, इच्छाप्रधान संविद्रूप है।

विषयाभास के आलम्बन के कारण, वासना द्वारा आहित स्वरूप का परामर्शक होने के कारण चैतन्य से अभिन्न रूप होने के कारण, रसप्रमाता स्वप्नद्रष्टा तैजस से तुलनीय प्रतीत होता है। जैसा कि कहते हैं –"जाग्रत्प्रज्ञा अनेक साधनों वाली, बहिर्विषया सी अवभासमान, मनःस्पन्दन मात्र वाली होती हुई उसी प्रकार के संस्कार को मन में आहित करती है। उस प्रकार संस्कृत वह मंन चित्रित पट की भाँति, बाह्य साधन से निरपेक्ष जाग्रत् की भाँति अवभासित होता है। इन्द्रिय की अपेक्षा मन के अन्तःस्थ होने के कारण, जिसकी (मन की) वासनारूप प्रज्ञा स्वप्न में है, वह अन्तःप्रज्ञ है। प्रज्ञा के विषयशून्य होने पर और केवल प्रकाश स्वरूप रह जाने पर (जब प्रज्ञा) विषयी रूप होती है, वही तैजस है। यहाँ (इस स्थिति में) केवल वासनारूप प्रज्ञा ही भोज्य होती है।[५] स्वप्नबोध और रसबोध में भेद तो स्पष्ट ही है; स्वप्न में जीव मोहावृत होने के कारण, जागरित संस्कार का अनुभव करता हुआ भ्रान्त ही है। रसबोध में भावना के बल से स्वतन्त्र रूप से वासनानुरूप और विवेकानुरूप लोक का सर्जन करता है। अन्तःप्रज्ञत्व और वासनाभोग, दोनों तुल्य ही हैं। विवेक और मोह विशेषक हैं। और, यह स्मरण रखना चाहिए कि रसबोध के लक्षण में भ्रमरूपत्व का बहुत से प्राचीन और अर्वाचीन आचार्यों ने निवेश किया है। जगन्नाथ पण्डितराज और सूसेन लैंगर की कृतियाँ यहाँ उदाहरणीय हैं।[६]

परमार्थतः, भरतमुनि का अनुसरण करते हुए अभिनवगुप्तपादाचार्य ने रस का अभेद स्वीकार करते हुए, भावभेद से रस-भेद को भी स्वीकार किया है। यह विदित ही है कि भाव कितने हैं, इसमें ऐकमत्य नहीं है। मुनि ने 'आठ' (रस) प्रतिपादित किया है, अभिनवगुप्त आदि ने नौ रस स्वीकार किये हैं। और उसी सम्प्रदाय ने प्रायः सर्वसम्मति को प्राप्त किया है, तथापि

भोजराज आदि, और वैष्णवाचार्यों ने नूतन मत प्रकाशित किये हैं, यह भी विदित ही है।

अभिनवगुप्तपाद भाव-निर्धारण के प्रसङ्ग में कहते हैं- "स्थायित्व इतने का ही है। उत्पन्न होते ही जन्तु इतनी ही संविदों से युक्त होता है। जैसा कि "दुःख के संश्लेष का विद्वेषी, सुखास्वादन में सादर" इस न्याय से सभी जन्तु रमणेच्छा से व्याप्त, स्वात्मा के विषय में उत्कर्षमानी होने के कारण दूसरे की हंसी उड़ाता हुआ, अभीष्ट के वियोग से सन्तप्त उनके हेतुओं के प्रति कोप से परवश, और अशक्ति की स्थिति में उससे डरने वाला, कुछ अर्जन करने की इच्छा वाला होकर भी अनुचित वस्तु के विषय के प्रति विमुखता से आक्रान्त, किञ्चित् अनभीष्ट रूप से मानता हुआ और तत् तत् स्वकर्तव्यदर्शन से समुदित विस्मय वाला, त्याग का इच्छुक ही हो जाता है। प्राणी इन चित्तवृत्तियों की वासना से शून्य नहीं होता। केवल किसी की अधिक, किसी की कम होती है। किसी की उचित विषयों में नियन्त्रित, किसी की अन्यथा। इसलिए कुछ ही पुरुषार्थ की उपयोगिनी होने के कारण उपदेश्य है। उसके विभाग द्वारा ही उत्तम प्रकृति आदि व्यवहार होता है।" हेमचन्द्राचार्य ने भी ऐसा ही विवरण उपन्यस्त किया है। तथापि साक्षात् अपने चित्त की प्रत्यवेक्षा से ही भावों की इयत्ता निर्धारित नहीं की जा सकती, यह स्मरणीय है।

यह नहीं कि स्थायिभाव अनादिवासनात्मक ही होते हैं, क्योंकि अनुभव की वासनाएं भी उसमें अन्तर्भूत हैं। सहज अभिमान, तन्मूलक राग और द्वेष, सहज अभिनिवेश के कारण मृत्यु का भय, दुःख का अनुभव और काम- ये सभी मनुष्यों में जन्मतः लक्षित होते हैं, तथापि उनके लोकसम्मत रूप भिन्न होते ही हैं। उन्हीं लोक-प्रतीत रूपों का कवि अनुसरण करता है, नानाशास्त्रों में विवादित, उनके मूलभूत परोक्ष तत्त्वों का नहीं। और, विवेकी होने के कारण, मनुष्यों में धर्म-बुद्धि और आस्तिक्यबुद्धि दिखाई देती है; और तन्मूलक उत्साह और भक्ति भी। नाना लोकव्यवस्थाओं में इच्छामूलक इस प्रकार की वृत्तियाँ भाव पद से व्यपदेश्य, अनियतसंख्या वाली और अनियतरूप वाली उपलब्ध होती हैं, उनके विभावादि भी भिन्न ही होते हैं। वहाँ इयत्ताकरण ठीक नहीं। और, इसलिए रसों की संख्या का नियमन भी ठीक नहीं। सहजप्रवृत्तिमूलक

आवेग, लौकिक अभिमान से अधिष्ठित भाव, रसाभ्यन्तरीभूत और साधारणीकृत भाव इन तीन भूमियों का विवेचन किया जा सकता है। पहली नियतप्राया होती है, किन्तु अन्य दोनों अनियतविषया होती है।

किन्तु अभिनवगुप्तपाद कहते हैं- "इस प्रकार वे रस नौ ही हैं। क्योंकि पुमर्थोपयोगी अथवा रञ्जनाधिक्य के कारण इतने ही उपदेश्य हैं। और इस कारण अन्य रसों के सम्भव होने पर भी आर्ष प्रसिद्धि के कारण संख्या नियत है ऐसा जिन अन्य लोगों ने कहा है उनका निराकरण किया गया है। --- आर्द्रता रूप स्थायिभाव वाला स्नेह रस है, यह ठीक नहीं; क्योंकि स्नेह ही राग है। और वह सब रति, उत्साह आदि में ही पर्यवसित हो जाते हैं। --- यही पद्धति गर्ध रूप स्थायिभाव वाले लौल्य रस के प्रत्याख्यान में समझनी चाहिए। --- इसी प्रकार भक्ति में भी कहना चाहिए।" यह तो पूर्वोक्त युक्ति के विरुद्ध, और चिन्त्य है। रसास्वाद का शमप्रायत्व कहते हुए आचार्यों ने उसके अद्वैत को ही अर्थतः आक्षिप्त किया है। भावों की अनियतता तो इतिहास से सिद्ध है।[७]

नाना भावों की उपाधियों से विभेदित रस एक ही है, आत्मप्रतीति से जुड़े भाव संस्कार से भेदित हैं।। १५।।

पाद-टिप्पणियाँ

१. इतालिया देश निवासी न्योली नाम के विद्वान् ने अभिनवगुप्त की रससूत्र की विवृति ईस्थैटिक एक्सपीरियन्स एकोर्डिङ् टु अभिनवगुप्त अपने इस ग्रन्थ में सुसम्पादित की है।

२. अपने *ईस्थैटिक* नाम के प्रसिद्ध ग्रन्थ में क्रोचे नामक मनीषी ने साक्षात्कार से अभिन्न कल्पना ही काव्य अथवा कला है यह कहा है। और जो अन्यगोचर उसका कलेवर है भौतिक उपादान से निर्मित है उसे आभ्यन्तर मूल का बाह्य चिह्न माना है। पुनश्च द्र० **कौलिंगवुड प्रिन्सिपल्स ऑव आर्ट** (१९७५), पृ० १८६ प्र० २११ प्र०

३. तु० तेन समयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः।
तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थाधीनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः।
मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः।
तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः। स च प्राग्वृत्तं व्यापारत्रयं न्यक्कुर्वन् प्रधानभूतः काव्यात्मा।
(**ध्वन्यालोक**, पृ० ६२-६३, लोचनकारः)

४. द्र० मेरा; भक्तिदर्शनविमर्शः, पृ० १००-४

५. शङ्कराचार्यविरचित माण्डूक्योपनिषद्भाष्य में

६. रसगङ्गाधर, पृ०२९ प्र० नव्यमतविवरण।

७. द्र० मेरा; साहित्य सौन्दर्य और संस्कृति (इलाहाबाद, १९९५), पृ०६३ प्र०

सौन्दर्यदर्शन-कारिका

१. सौन्दर्यशास्त्रस्वरूपम्

सङ्गीते काव्यचित्रादौ रविचन्द्रोदयादिषु।
लोकस्य रमते चित्तमालोच्यार्थं विलक्षणम्।। १।।

तद्धेतुर्दृश्यसौन्दर्यमक्षगोचरतां गतम्।
अन्वीक्षमाणास्तच्छास्त्रमीस्थैटिकेतिसंज्ञितम्।। २।।

''वृक्षोद्याना''भिधाचार्याः पृथगेव प्रणिन्यिरे।
विद्यास्थानस्य तस्यैव तत्त्वमत्र विमृश्यते।। ३।।

भारते न पुरा दृष्टा स्वतन्त्रपदमास्थिता।
एषा विद्येति बहवो मन्यन्ते पण्डिताः खलु।। ४।।

विद्याविभागोऽनेकान्त इति नालोच्यते तु तैः।
सापेक्षतापि विद्यानां दृष्टिसंस्कृतिहेतुका।। ५।।

एकमेव भवेच्छास्त्रं नाना वा देशकालतः।
अभिन्नं वस्तुतन्त्रत्वात् समानविषयत्वतः।। ६।।

प्रमाणाश्रितविज्ञान-विद्यारूपतया तथा।
सौन्दर्यदर्शनं नाम शस्त्रमेकं भवेन्ननु।। ७।।

सम्यक्प्रत्यक्षमाश्रित्य सुन्दरत्वं विचारयत्।
न्यायेन बहुधा शास्त्रं दर्शयेदेकरूपताम्।। ८

पारम्पर्यप्रभेदास्तु दृश्यन्ते स्फुटमेव ये।
प्रयोगविधिमूलास्ते रूढीनां वा समाश्रयात्।। ९।।

एकदेशविचाराद्वा प्रयोजनमपेक्ष्य वा।
अथवा भूमिभेदात्ते ज्ञातव्या न तु सारतः।। १०।।

संगीत-शिल्प-नाट्यादि-शास्त्रेषु नन्वनेकधा।
लक्षणानि निरूप्यन्ते लक्ष्यभेदश्च दृश्यते।। ११।।

ततः सर्वसमासेन शास्त्रमेकं किमर्थकम्।
सर्वानुगतसामान्यं किं न स्यान्निष्प्रयोजनम्।। १२।।

सौन्दर्यनिर्णयः कीदृक् किन्निबन्धन एव च।
कथं किमर्थं सृज्यन्ते रूपाणीति विचिन्तनात्।। १३।।

तर्कशास्त्रे यथा नानाविद्यानामेकरूपता।
तथैवात्र कलादीनां तत्त्वानामपि मन्यताम्।। १४।।

न ज्ञानविषयाः साक्षादविकल्पतया स्थिताः।
विकल्पेनानुमानेन गम्यास्ते व्यावहारिकाः।। १५।।

आभासमाना गृह्यन्ते व्यावृत्त्या लक्षणैर्धिया।
अस्तितो गुणतः कार्यात् तत्त्वात्प्रत्ययतस्तथा।। १६।।

दृष्टेरनुभवस्याथ युक्तीनामागमस्य च।
भेदात्प्रयोजनस्यापि विद्या-कल्पना-भिदा।। १७।।

तर्कमात्राश्रिताः काश्चिद् विद्या या गणितादयः।
प्रत्यक्षमाश्रिता अन्या आगमं च ततोऽपराः।। १८।।

तर्केणैव प्रवर्तन्ते स्वलक्ष्यस्य विधारिकाः।
आकारमात्रविश्रान्ता विद्या या गणितादयः।। १९।।

देशकालादिपर्यायैरभिन्नं नियतक्रमम्।
अध्यवस्यन्ति तास्तत्त्वं सनातनमिव स्थितम्।। २०।।

सौन्दर्यविषयं शास्त्रं न ताभिस्तुल्यतामियात्।
अनुभूतगुणाशेषव्यावृत्तेर्गणितादिषु ।। २१।।

न वा प्रत्यक्षविज्ञानं तुलनीयं भवेद् यतः।
प्रत्यक्षविषया लक्ष्याः कार्यकारणभावतः।। २२।।

नाध्यात्मिकगुणास्तत्र लक्ष्यन्तेऽचेतनात्मसु।
यावता बाह्यविज्ञानं वस्तुमात्रोपदर्शकम्।। २३।।

न तावतास्य विषयः पुरुषार्थतया मतः।
अहैतुकीप्रसिद्धा हि सौन्दर्यस्य पुमर्थता।। २४।।

तार्किकात् प्राकृताद् वापि विषयाद् ये बहिःस्थिताः।
आत्मात्मीयतयाभासा लोकचैतन्यसंश्रयाः।। २५।।

संस्कृतिविषयास्तेषां विद्याः सन्ति पृथग्विधाः।
एतास्वेव समाहार्याश्चतस्रो विदिताः पुरा।। २६।।

धर्मार्थादीनि शास्त्राणि शिल्पनाट्यकलादिकाः।
सर्वाः पुमर्थविषयाः पारम्पर्यनिबन्धनाः।। २७।।

कलादिपारम्पर्यस्य यान्वीक्षा दर्शनानुगा।
सैव रम्यत्वमीमांसा विद्या सांस्कृतिकी ध्रुवा।। २८।।

वस्तुसन्तो मता येऽर्थाः सामर्थ्यादक्षगोचराः।
ज्ञानयुक्तिप्रकारा वा प्रत्ययत्वनिबन्धनाः।। २९।।

पौरुषार्थास्ततो भिन्नाः पारम्पर्यक्रमागताः।
प्रथिता यासु विद्यासु तत्रेयमवधार्यताम्।। ३०।।

विना हृदयसंवादमास्वाद्यत्वार्थवत्त्वयोः।
विवेकोऽसम्भवी क्वापि वस्तुमात्रनिभालनात्।। ३१।।

कवीनां रसिकानां च हृदयं संस्कृतिवासितम्।
कलाद्यनर्घलोकानां योजना संस्कृतिर्मता।। ३२।।

एवं संस्कृतिसापेक्षे रुचि-दृष्टी उभे अपि।
सौन्दर्यदर्शनं मूलात्तस्मादेव प्रवर्तते।। ३३।।

सौन्दर्यशास्त्रं नापूर्वं नैकरूपं सदैव वा।
बाह्यार्थविषयं नैव लक्षणैकाश्रयं च न।। ३४।।

पुरुषार्थविशेषस्य यान्वीक्षा साम्प्रदायिकी।
ज्ञेया सौन्दर्यमीमांसा सापेक्षा सेतिहासतः।। ३५।।

अधुनातनरूपस्य हेतुरभिनवा मतिः।
सौन्दर्यं पृथगेवार्थो ज्ञानधर्मविलक्षणः।। ३६।।

विज्ञानमात्रप्रामाण्यं प्रत्यपादि मनीषिभिः।
सौन्दर्यबुद्धेः प्रामाण्ये शङ्काप्युपस्थिता ततः।। ३७।।

आरोहेत्, ज्ञानपदवीं कथं सौन्दर्यनिर्णयः।
विभिन्ना रुचयो लोके दृश्यन्ते हि निरंकुशाः।। ३८।।

विज्ञानं न निराकारं न यथार्थोपदर्शकम्।
कल्प्यते विषयो नाना व्यवहारे कलादिषु।। ३९।।

रचना प्रतिभासस्य चिद्वृत्तिमनुगच्छति।
ज्ञाने कर्मणि भावे च वृत्तयो विविधाः स्मृताः।। ४०।।

वस्तुतन्त्रं मतं ज्ञानं ज्ञानं कर्मानुधावति।
अनादिवासनालभ्यैर्धर्मैर्वस्तु विकल्प्यते।। ४१।।

स्वतन्त्रः पुरुषः कर्ता विधिबोधपुरस्सरः।
विधेः प्रत्यायका धर्माः स्वातन्त्र्यस्य विकल्पकाः।। ४२।।

भावे विषयी विषयं कुरुते न तु वस्तुतः।
प्रतिबिम्बमयं तत्र सृजत्यात्मानमिच्छया।। ४३।।

दृश्यमाना विकल्प्यन्ते स्वतः स्फुरितया धिया।
विषयाः, भाति सौन्दर्यमन्तर्बाह्यतया स्थितम्।। ४४।।

न स्वहेतुकृतं लक्ष्यं रचितं प्रतिभासतः।
कल्पनया रुचिकृती सम्भवतः सहैव ते।। ४५।।

रम्यार्थोन्मीलनं काव्यकलादि-रचना तथा।
आस्वादश्च समः सर्वो व्यापारः प्रथमं कवौ।। ४६।।

पण्डितेषु ततस्तस्य समीक्षा लक्षणाश्रिता।
लक्ष्यानुसारिणी सा धीः शास्त्ररुपतया स्थिता। ४७।।

विलक्षणैव प्रत्यक्ष-बुद्धिः पूर्वं प्रजायते।
चमत्कारकता यस्या भासतेऽन्तर्निगूढवत्।। ४८।।

ततः सहृदयैस्तत्र गुण-दोष-विवेचनम्।
स्वानुभूतिप्रमाणेन न्यायेन च विधीयते।। ४९।।

पुरस्सरं भवेत्तत्र लक्षणादिनिरूपणम्।
लक्षणादिप्रधानं तु शास्त्रमित्यभिधीयते।। ५०।।

तत्तदालोचनाशास्त्रप्रयुक्ता मूलकल्पनाः।
अन्वीक्ष्यन्ते तु तर्केण तत्स्यात् सौन्दर्यदर्शनम्।। ५१।

सौन्दर्यं विषयस्तत्र प्रत्यालोचनगोचरः।
तत्त्वजिज्ञासयान्वीक्षा तर्कस्तत्साधनं मतम्।। ५२।।

दर्शनानां पुनस्तेषां मूलदृष्टिविचिन्तनम्।
अनेकान्तप्रसङ्गादिदृशा प्रज्ञा मता तु सा।। ५३।।

सौन्दर्यबुद्धिर्द्विविधा प्रतिभानात् कृतेश्च सा।
काव्यादि रचयन्ती सा सदास्वादपरायणा।। ५४।।

या साक्षात्कारिणी बुद्धिः सैवात्र प्रतिभा स्मृता।
सा पूर्वकल्पना सैव रचना व्यक्तिरित्यपि।। ५५।।

अदृष्टाद्हेतुतस्तस्याः स्फूर्तिः संजायते क्वचित्।
सहजात्तत्क्षणाद्वापि वस्तु वासयते श्रिया।। ५६।।

चमत्कारवती तस्मात् सृष्टिः प्रत्यग्विभात्यहो।
ग्रावप्रख्यं जगत्सर्वं सरसं भाति तत्क्षणात्।। ५७।।

रचना-विषया-स्वाद-त्रितयस्य परीक्षणम्।
लक्षणैः क्रियते यत्र तच्छास्त्रमभिधीयते।। ५८।।

नाट्यशिल्पादिशास्त्राणां तुल्यतत्त्वार्थगोचरा।
अन्वीक्षा न्यायतस्तस्या मीमांसेत्यभिधीयते।। ५९।।

सौन्दर्यबुद्धिः प्रथमं जायतेऽथ परीक्ष्यते।
अन्वीक्ष्यते ततो न्यायात् त्रिपर्वा ज्ञानपद्धतिः।। ६०।।

विषयो रचनायुक्तो रूपात्मैव विभाति यत्।
प्रियत्वबुद्धिराद्या सा कृतितः प्रकृतेरिव।। ६१।।

धियोऽस्याः सविषयायाः लक्षणैरवधारणम्।
गुणदोषपरीक्षापि तत्तच्छास्त्रे व्यवस्थिता।। ६२।।

प्रतिभासात्परीक्षान्ता बुद्धिरन्वीक्ष्यते यया।
तत्त्वतो हेतुतश्चापि सा मीमांसाभिधीयते।। ६३।।

सौन्दर्यबुद्धावाद्यायां तस्यामुन्मिषति द्वयम्।
विशिष्टरूपलोकोऽथ संस्कारश्च रसविदाम्।। ६४।।

आगमय्य द्वयं तत्तु लक्षणानां निरूपणम्।
गुणदोषविमर्शश्च तत्संलग्न इव स्थितः।। ६५।।

सौन्दर्यबुद्धिमीमांसा तत्पुरस्कृत्य वर्तते।
तत्त्वदृष्टिविशेषोऽपि तथैवागम्यते पुरः।। ६६।।

रूपसंसारपूर्वत्वं रससंस्कारपूर्वता।
दृष्टिपूर्वङ्गमत्वं च मीमांसाक्षिपति त्रयम्।। ६७।।

वेद्यते रूपसंसारो देशकालप्रभेदतः।
तदास्वादनसंस्कारा गृह्यन्ते सम्प्रदायतः।। ६८।।

दृष्टयोऽपि तथा लभ्याः सम्प्रदायसमागताः।
रुचिदृष्टिप्रवृत्तीनां समवायो हि संस्कृतिः।। ६९।।

भिद्यते देशकालाभ्यामविच्छिन्नापि वर्तते।
एकानेकतया नृणां पारम्पर्यविवर्तिनी।। ७०।।

संस्कृतावेवमायत्ता मीमांसा नैकरूपिणी।
पूर्वोक्तहेतुसन्दर्भे तस्या आलोचनं पुनः।। ७१।।

अन्वीक्षाया भवेत्कापि पद्धतिर्नूतना धियः।
इतिवृत्तमपेक्ष्यापि यत्र तत्त्वविचारणा।। ७२।।

प्रमाणैरर्थविज्ञानमन्वीक्षा तस्य तर्कतः।
शङ्कावधिर्मतस्तर्कः प्रमाणस्योपकारकः।। ७३।।

युक्तिमूलतया तत्रापेक्ष्यन्ते प्रतिपत्तयः।
पुंसामियत्तां ज्ञानस्य सम्भवासम्भवौ तथा।। ७४।।

विवेकं निर्दिशन्त्यश्च दृष्टिसंज्ञा भवन्ति ताः।
लक्ष्यैकदेशवर्तित्वादपूर्णा नापि सङ्गताः।। ७५।।

तत्त्वप्रत्यया विविधास्तत्तद्दृष्टिनिबन्धनाः।
तद्विरोधपरीहारे प्रज्ञा युक्तिर्निषेधिका।। ७६।।

विवादीन्यपि तत्त्वानि संवादीनि यथाक्रमम्।
जायन्ते सप्रसङ्गत्वाद् वादानेकान्ततागतेः।। ७७।।

मूर्धाभिषिक्ता दृष्टान्ता लभ्यन्ते प्रथमं ततः।
निकषाणां लक्षणानां निर्धारणपरा च धीः।। ७८।।
ततो व्यापकतत्त्वाानामन्वीक्षा न्यायचक्षुषा।
ततोऽपि तत्तद्वादानामनेकान्तविचारणा।। ७९।।

नयभेदं समाश्रित्य स जैनैः प्रतिपादितः।
अनेकान्तवादः प्रतियोगी केवलिनो धियः।। ८०।।

परिच्छिन्नस्वभावानामर्थानां तत्त्वशून्यताम्।
प्रसङ्गापादनाद् बौद्धा माध्यमिका अतिष्ठिपन्।। ८१।।

सर्वविज्ञानतत्त्वानां मूलान्वेषणतत्पराम्।
प्रैरयत धियं प्लातो ज्ञानसूर्यदिदृक्षया।। ८२।।

विरोधपरिहारेण स्वप्रकाशात्मप्रत्यये।
लीयन्ते प्रत्ययाः सर्व इति हेगेलनिश्चयः।। ८३।।

इतिहासक्रमेणैव जायन्ते तत्त्वनिश्चयाः।
तत्तदाग्रहसापेक्षाः परस्परविरोधिनः।। ८४।।

इति मार्क्समतं यत्तु प्रसिद्धिं परमां गतम्।
सर्वेष्वेव मतेष्वेषु प्रतिष्ठा नाप्यते क्वचित्।। ८५।।

लक्ष्याणां प्रत्ययानां वा नाशेषज्ञानसम्भवः।
अद्वयपरमार्थो हि द्वयबुद्ध्या न गाह्यते।। ८६।।

आस्वाद्यो ज्ञानमात्रेण विमृश्यश्च स्वरूपतः।
आकारगतोत्कर्षस्तत् सौन्दर्यमभिधीयते।। ८७।।

२. रूपतत्त्वविमर्शः

सौन्दर्यविषयोत्पत्तिविनाशौ व्यक्त्यपेक्षया।
आकारो व्यञ्जको हेतुराभासान्न तु वस्तुतः।। १।।

सौन्दर्यबुद्धेः प्रामाण्यं स्वानुभूतिनिबन्धनम्।
स्फुरत्यतिशयः कश्चित् सङ्केतरचनाश्रितः।। २।।

परोक्षार्थः कथं व्यङ्ग्यः शास्त्रनिर्देशमन्तरा।
रूपनिर्माणविज्ञानं कलेति व्यपदिश्यते।। ३।।

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभेदेन कलाकाव्यादिषु स्फुटम्।
तत्त्वयोर्लक्ष्यते भेदो युगनद्धतया स्थितः।। ४।।

सौन्दर्यजनिताह्लादः सुखान्तरविलक्षणः।
समालोच्यविशेषोऽपि मूकास्वादसमोऽन्ततः।। ५ ।।

स्वभावादेव काम्यत्वं ननु रूपेषु दृश्यते।
सहजं काममूलं तत् किं न चारुत्वमिष्यते।। ६।।

प्रवर्तनान्न सौन्दर्यं चमत्कारमयं हि तत्।
जायतेऽतिशयज्ञानाद् योग्यसंस्कारपूर्वकात्।। ७।।

दृश्यश्रव्येषु रूपेषु ज्ञानरक्ती समाकृती।
हेतुरालम्बनं चैव न भिद्येते द्वयोरपि।। ८।।

अर्था रूपादिशब्दानामप्रत्यक्षा अतर्कजाः।
ऐतिह्यतत्त्वदर्शिन्याः प्रज्ञाया गोचरास्तु ते।। ९।।

प्रतीकं लक्षणं मूर्ती रचनाकार इत्यपि।
लक्ष्यते रूपशब्दार्थश्चतुर्धा रूपपर्ययात्।। १०।।

अव्यक्तं व्यज्यते यस्माद् विक्षेपावरणात्मकात्।
रूपं तदिष्यते वेदे देवशक्तिनिबन्धनम्।। ११।।

स्वातन्त्र्यात् सृज्यमानं तद् निगूढमवभासयत्।
अभिप्रायप्रकाशात्मा सङ्केतः सहजो यथा।। १२।।

प्रातिरूप्यं क्वचिद् रूपे प्राहुः सद्व्याप्तिदर्शनात्।
लक्षणाद् वा विभेदेऽपि रूपमौपाधिकं स्मृतम्।। १३।।

अग्निसूर्यादिरूपाणि प्रतीका वोपदशतः।
व्यञ्जयन्त्यतिरिक्तार्थं काव्यशिल्पादिसाम्यतः।। १४।।

कैश्चिद् विलक्षणैवोक्ता सौन्दर्यस्य पुमर्थता।
वेदेषु कमनीयत्वमात्मन्येव रतिर्भवेत्।। १५।।

आनन्दो भासमानस्तु सत्त्वोपाधिषु साकृतिः।
आत्मविश्रान्त्यभेदेन सौन्दर्यं व्यपदिश्यते।। १६।।

सुन्दरोदात्तयोर्भेदो व्याप्त्यतिक्रान्तिमूलकः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।। १७।।

अद्वैतं दर्शनं श्रौतं कालभेदाविभेदितम्।
आभासो देवदेवस्य विश्वसौन्दर्यमिष्यते।। १८।।

रूपे रूपे हि सङ्केतो लक्ष्यते परमेशितुः।
व्यङ्क्तत्वं तु तस्यैव रूपश्रीरभिधीयताम्।। १९।।

इतिहासेषु वीराणां चरित्रेषु निदर्श्यते।
धर्माधर्मगतिः सूक्ष्मा रूपभेदश्च लक्षणम्।। २०।।

बौद्धैः सप्रतिघं रूपमैन्द्रियाभासलक्षणम्।
विज्ञानाकृतिमात्रं वा प्रतिबिम्बोऽथवा मतः।। २१।।

रागत्यागविषयत्वात् कारणं बन्धमोक्षयोः।
रूपं द्विविधसौन्दर्यं भोग्यत्वाच्छान्तितस्तथा।। २२।।

शमप्रधानं बौद्धानां काव्यं प्रासादिकं तथा।
रम्यत्वं प्रकृतेस्तत्र चित्तस्येव प्रभास्वरम्।। २३।।

विचाराद् ध्यानतश्चैव सौन्दर्यं भात्यलौकिकम्।
रूपं काल्पनिकं शान्तं प्रतिबिम्बत्वबोधतः।। २४।।

नैर्माणिकेन रूपेण बुद्धकायः पुरास्फुरत्।
प्रतिमानुस्मृत्या तस्य प्रतिबिम्बानुकारिणी।। २५।।

कल्पना द्विविधा प्रोक्ता लोकधर्मानुगामिनी।
नैरात्म्यभावनाद् धर्मा विमला भान्ति निर्वृताः।। २६।।

जनप्रधानं वेदानां युगं जानपदं ततः।
साम्राज्यं च ततस्तन्त्रं सामन्तानामेव च।। २७।।

युगानुक्रमतश्चैवमभेदि रूपकल्पना।
प्रतीकं लक्षणं चैव प्रतिमालकृतिर्भिदा।। २८।।

सङ्केतः कल्पनामूलः कल्पना शक्तिरात्मनः।
परामर्शात्मिका चिद्धि सृजत्यात्मानमात्मना।। २९।।

रचनामाश्रितं रूपं रचनार्थगवेषिणी।
चित्ताभिप्राय एवार्थः सङ्केतमनुवर्तते।। ३०।।

३. रसतत्त्वविमर्शः

शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः।
वेदेष्वपि स नानार्थो देवोपासनसङ्गतः।। १।।

रसयुक्तिः समाख्याता सोमसामविधानयोः।
दिव्या प्रीतिः स आनन्दो भाव्यो व्यङ्ग्यश्च संविदः।। २।।

वाक्प्राणमिथुनीभावः स्वच्छन्दः सामरस्यतः।
शिल्पमात्मकृतिस्तस्मात् ज्योतिषा स्वेन सृज्यते।। ३।।

कोऽयं नाट्यरसस्तावन् मनोरञ्जनमेव किम्।
आस्वाद्यो वा सहृदयैरुत्कर्षः कश्चिदिष्यते।। ४।।

मुनिना नाट्यसन्दर्भे रसतत्त्वं निरूपितम्।
दृष्टान्तीकृत्य लोकं तन् नाट्यं बोधयते सतः।। ५।।

प्रबोधनं भवत्यत्र स्वरूपोन्मीलनात्स्फुटम्।
स्थगितायामहंबुद्धौ भावे रूपान्तरीकृते।। ६।।

बह्वर्थसमवायेऽपि रसो नाट्ये प्रधानताम्।
भजति द्रव्यसंस्कारो यथा भक्तविदां मते।। ७।।

चित्तमेव भवेन्मूलद्रव्यं भावस्तु संस्कृतिः।
लोकार्थकृतसंकोचापाये संविद्रसोदयः।। ८।।

नाट्यसंदर्शनाज्जातो रसः प्रेक्षकचेतसि।
अभिन्नो लौकिकाद् भावात् प्रतीतोपचितोऽपि सः।। ९।।

इत्यत्र दृश्यते स्पष्टं सम्बन्धो नाट्यलोकयोः।
असम्बन्धस्तयोस्तावत् सर्वथा लुप्यते पुनः।। १०।।

उत्पत्त्यनुकृती नैव लौकिकत्वमपोहतः।
प्रतीत्यनुमिती चापि ताटस्थ्यं विषये तथा।। ११।।

साधारणीकृतिर्नाट्यं लोकाद् भेदयतीति यत्।
भट्टनायकपादोक्तं तत्प्रायः सर्वसंमतम्।। १२।।

ध्वनिवादं समालम्ब्य गुप्तपादैः प्रकाशितम्।
रसस्य परमं तत्त्वं संविद्विश्रान्तिलक्षणम्।। १३।।

प्रतिबिम्बसमो लोको भावोल्लेखितया स्फुरेत्।
भावश्च विषयः साक्षाद् अनारवरणसंविदः।। १४।।

एक एव रसो नानाभावोपाधिविभेदितः।
आत्मप्रतीतिसंलग्ना भावाः संस्कारभेदिताः।। १५।।

शब्दानुक्रमणी

अकामहत श्रोत्रिय / ९७
अग्नि / ५४, ५६, ५९, ९०
अङ्गाङ्गिकरण वैचित्र्य / १२१
अजकरणी नदी / ६५
अजन्ता / ७४, ८६
अतद्व्यावृत्ति / ६४
अतिशयोक्ति / ८७
अतीन्द्रिय / २२, २३
अद्भुत / ८०, १०१
अदृष्टफल / ७३
अद्वय तत्त्व / ११, ३७, ५७
अद्वैत / ३५, ५८, ५९, १३२
अद्वैतवाद / ६२
अध्यात्मवाद / ३९
अध्यास / ५९.७६
अनर्घराघव / १००
अनात्मवाद / ६३
अनादिवासना / २९, ६६, ७९
अनास्रव / ६८, ७२
अनुकार्यानुकर्तृभाव / ११५
अनुकृतिवाद / ७२
अनुभाव / १०३, १०६, १०७, १०८, १११, ११२, ११५, ११८, १२६
अनुमिति पक्ष / १०६
अनुमितिवाद या अनुमिति / १११, ११२, ११३, १२१
अनेकान्तवाद / ३५
अन्त:प्रज्ञ / १३०
अन्त:स्थ अर्थ / ४५
अन्तर्याग / ९६
अन्नमय / ३९
अन्वीक्षा / १, ७, १४, १७, १८, १९, २१, २७, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४
अपोह / ९२
अभिधर्मकोश / ७०
अभिधा / ११९, १२२
अभिनवगुप्त / ११, २२, ६०, ९८, १०६, १०७, १११, ११६, ११७, ११८, १२०, १२१, १२३, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३२
अभिनवभारती / १०६, ११८
अभिनव मति / २८
अभिव्यक्तिवाद / १२०
अमर सिंह / ४५, ७५, ९५
अमृत / ९७
अरस्तू / ४, ७२
अरूपधर्म / २३
अर्जुन / ५७, ६१, ९६
अर्थक्रियासामर्थ्य / ६९
अर्थप्रतिपत्ति / २३
अर्थ-प्रवृत्ति / १०३
अर्थ-सन्तति / १२५
अर्थापेक्ष आस्वाद / २३
अर्थालंकार / १२२
अलौकिक-रस / १२८
अल्पत्व-बहुत्व / ८०
अवगमनशक्ति / ११२
अवनीन्द्रनाथ ठाकुर / ८२
अवमा भूमि / ४९
अशक्यपरिहार / १२०
अश्वघोष / १००
अष्टरसाश्रयत्व / १०२
असत्कार्यवाद / १११
अहंबुद्धि / १००
आकृति / ३८
आगम / ४, १६, १७, २३, २५, २७, ३७, ३९, ४५, ५८, ६०, ७२, ७३, ७९
आगमिक सम्प्रदाय / ७८

आङ्गिक / १०४, १०७
आठ रस / १३०
आतोद्यगान / १०२
आत्मकृति / ७३
आत्मचैतन्य / ८०
आत्मत्व और अनात्मत्व / १८
आत्मप्रतीति / १३२
आत्मप्रतीतिभेद / २५
आत्मभूमि / १५
आधिदैविकी दृष्टि / ४०, ४१
आनन्द कुमारस्वामी / २३, ५९
आनुवंश्य / १०४
आभासवाद / ११६
आभासभूमि / १५
आम्नाय / ५९
आयुर्वेद / ९
इतिहास या इतिहास-काव्य / ६०, ६१, ७१, ७९, ११३, ११४
इन्द्र / ६४
इन्द्रियसन्तर्पणार्थ / ७३
इष्टत्व / १९
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी / १२५
ईस्थैटिक / १, ३, ७, ८
उत्पत्ति और अनुकृति / ११३
उत्पत्ति और प्रतीति / १२३
उत्पत्तिपक्ष / १०६
उत्पत्तिवाद / १११
उत्सर्ग-सूत्र / ३६
उद्गीथ / ९५
उद्ग्रहनिमित्त / ८२
उपचार और मण्डप / १०१
उपचितिवाद / १११
उपनिषद् / ५४, ५८, ६४, ७०, ९५
उपमिति / १२१
उपादानद्रव्य / ८७
उपादेयत्व / १९
उपासना / ७३, ८०
उषस् / ५६
ऋक् / ९५
ऋतपेशा / ५६
ऋत या ऋत-सूत्र / ४०, ५७, ७३
एक्विनास / २२
ऐतरेय / ५६
ऐन्द्रियाभासलक्षण / ६२
ओल्डेनबर्ग / ५६, ५८
औपम्य / ८७
कक्ष्याविभाग / ७९
कपिसंयोग / ५
करुण / ८०
काण्ट / २८
काम / ७५, ७६, ८५, १०८, १३१
कामलोक / ७०
कामसूत्र / १३
कार्यकारणभाव / १५, १७, २०, ६७, ६९
कारयित्री / ३१
कारु / ७९
काव्यमीमांसा / ३८
कीट्स / ४३
कुन्तक / ४६
कुमारसंभव / ७५, ७६
कृष्ण / ७२
केवली / ३५
कोपर्निकीय / ५, ९
क्षणिकत्व / ६८
क्षोदक्षम / १५, ८८
खगोलविद्या / ५, ९
गजनिमीलिका / ८
गणित / ८०
गन्धर्व / ९७
गान्धर्व / ७९
गान्धारग्राम / ७९
गान्धार तथा निषाद / ८०
गीता / ९६
गुणद्रव्यभाव / १५
गुप्तकाल / ७०
गौ / ११६
घट-पट / १५, २०, ३०, ५०, ५१, ८४
घन-विग्रह / २२

चत्वारिवाक् / ९२
चन्द्र / ८३, ९०
चमत्कारापरपर्याय / २
चित्तधर्म / २३
चित्तवृत्ति / ८४, १०३, १०७, ११४, ११५, ११६, ११८, १२०, १२४, १३१
चित्रकला / ८१
चित्रतुरगादिन्याय / ११६
चित्र-बुद्धि / ४३
चिदावरणभङ्ग / १२८
चिराभ्यास-पाटव / ३७
चीन / ८६
चीनी लिपि / ८९
चेतना / ११७
चैतन्य / २९, ५०, ५४, ५९, ८३, ८८, ८९, ९०, ९२, ९८, १२७, १३०
चैतसिक / ७०
चैतसी भूमि / १२३
छन्दस् / ५९
छन्दोमयी वाक् / ९६
छान्दोग्य / ९५, ९७
ज्योतिर्विद्या / ४, ८
जडकारित्र / १०९
जडविषयीकृत / ३६
जडोपादानवाद / ५३
जनपद काल / ७४
जनवादी / १००
जन्यजनकभाव / ६२
जल / ९५
जहदजहल्लक्षणा / ५७
जातिगान / ७९
जानपद युग / ७१
जीवात्मा-परमात्मा / ३७
जैन / ३५
ज्ञान-मीमांसा / २८
ज्ञानाव्यभिचारी / ६७
टॉमस / २२
टॉलमेय / ५, ९
तत्त्वजिज्ञासा / ३०, ३६, ५०
तत्त्वबुद्धि / ७५
तत्त्वमसि / १२०
तत्त्ववाद / २३
तत्त्व-विचार / ५१
तत्त्वविद्या / ७२
तन्मयीभाव / १२१, १२४
तन्मयीभूत चित्त / ७९, ८०
तारत्व-मन्द्रत्व / ८०
ताल-लय-छन्द / ७८, ७९, ८०
तूलिका / ८५, ८७
तैजस / १३०
तैत्तिरीय / ९७
त्रिपर्वा / ३२
दण्डी / १०७
दर्शन / १२१
दशरूपक / १०३
दृष्टिपूर्वांगमत्व / ३२
दिङ्नाग / ९२
दिव्य मिथुन / ७८
दुर्योधन / ६१
दुष्यन्त / १०८, १०९, ११३, १२३
देवप्रतिमा / ७१
देवशक्ति / ४०
देवाख्यान / २७
देवायतन / ७९, ८७
देवासुरसंग्राम / ६०
देवोपासना / ९५
द्वन्द्वात्मक प्रज्ञा / ५१
द्विधाविभाग (द्वय) / ११६
द्वैत / ३५
द्युलोक / ५७
द्रुतत्व-मन्दत्व / ८०
द्रुतविलम्बित / ८०
द्रुति-दीप्ति-विकास / १२१
ध्वनिवाद या ध्वनि / १२३, १२५
धर्म और धर्मी / ६८
धर्मकाय / ६८
धर्मबुद्धि / ७५
धर्मायतन / ६२
धातुपाठ / ९५
धैवत स्वर / ८०

ध्रुवाराग / ७९
नट / १००, १०२, १०७, १०८, १११, ११२, ११४, ११५
ननान्दा / १९
नय / २४, ३५, ५१
नरसिंह आकार / ५७
नयभेद / २४
नाट्यतत्त्व / १११
नाट्यदर्पण / ११८
नाट्य-पदार्थ-संग्रह / १०१
नाट्यरस / ९८, १०१, १०४, १०५
नाट्यशास्त्र / ७८, ९८, १००, ११०
नाट्यसंग्रह / १०१
नाट्य सम्प्रदाय / ७४
नाट्योत्सव / ८१
नाद / ८१, ८९, ९६
नादसाधना / ७४
नादात्मक संगीत / ७९
नाम-रूप / ४०, ५३, ५४, ५९, ६२, ६४, ६७, ९०
निकल / ९८
निघण्टु / ५५
निरुक्त / १०१
निर्भासी तत्त्व / १०९
निर्माणकाय / ६८, ७२
निरूपण-भङ्गी / १४
निर्वाण / ६८
निर्विकल्पक प्रत्यक्ष या निर्विकल्प / २, ८३, १२७
निर्वेद / १०७
निवृत्ति मार्ग / ७६
निष्पत्ति / १०८
नील / ८८, ८९, ९१
नैयायिक / ४, २९, ३८
नैरात्म्यभावना / ६९
नैषध / ८७, १००
न्याय / १४, ३०, ३४, ३७, ५१
न्यायदर्शन / १११
न्यायसूत्र / ११७
पण्डितराज जगन्नाथ / २, ३, ४८, १३०
पञ्चदशी / १८
पञ्चमवेद / ११०
पतञ्जलि / १०८
परसंवित्ति / १२१
परामर्श-स्थान / ३९
पर्येषणा / ७५
पश्यन्ती / ८९, ९२
पाणिनि / ७४
पाण्डव / ७१
पातञ्जल दर्शन / ६८
पाटलिपुत्र / १२४
पाठ्य और ध्रुवागान / १२२
पार्वती / ७६
पारसीक / ७१, ८६
पिशेल / ५६
पी० एस० शास्त्री / ५६
पुराण / ३९, ७९
पुरुषार्थ या पुरुषार्थचर्या / १५, १७, १८, १९, २०, २१, २४, २६, २७, २८, ५२, ५६, ६१, ८८, १००, ११०, १२७, १३१
पूतिकाय / ६८, ७२
पूर्वराग / १०५
प्रज्ञा / ३३, ३४, ३५, ३७, ५०, ५१, ५५, ५६, ५९, ६६, १३०
प्रतिबिम्बमात्रता / ७०
प्रतिभागनिमित्त / ८२
प्रतिभास या प्रातिभासिक / १२, २६, २७, २८, २९, ३२, ३४, ३८, ३९, ६२, ६५, ६६, ६८, ६९, ९०, ११६
प्रतिभासविषया रूप / ५३
प्रतिपत्ति / ३४, ५३, ६८, ११७, १२१, १२३
प्रतिमान / १२१
प्रतिमा लेखन / ७२
प्रतीक-प्रतीक्यभाव / ५५
प्रतीति और अनुमिति / ११३
प्रतीतिवाद / १११.११६

प्रतीत्यसमुत्पाद / ६२
प्रतीयमान धर्म / ४७
प्रत्यक्षवाद / ३९
प्रत्यभिज्ञासिद्धान्त / १२३, १२८
प्रमा / ८३
प्रमाता / १८, ८३, ८४, १२३, १२४, १२७, १२९
प्रमातृ-भाव / १२८
प्रमाण-वृत्ति / २७
प्रमाण वैशिष्ट्य / ७२
प्रवृत्ति-निवृत्ति / ७४
प्रशस्य / ५५, ५६
प्रह्लाद / ५७
प्राण / ४०, ९६, ९७, १०२, १०७
प्राणच्छन्दस / ८१, ८६
प्राणमय / ३९
प्राजापत्य सृष्टि / ७१
प्लातोन / ४, २२, २३, ३५
बच्चासक्का / ४७
बाउमगार्टेन / १, ३, ७, १३
बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव / ७०
बीभत्स / ८०, १०१
बुद्ध / ६५, ७२, ७४
बुद्धकाय / ६८
बुद्धचरित / ११४
बुद्धि की चार भूमियां / ३०
बुद्धिवाद / २३
बोधिसत्त्व / ६८
बौद्ध / १४, ५३, ६२, ६३, ६४, ६५, ६८, ७४, १२०
बौद्धागम / ६५
ब्रह्म / ४०
ब्रह्मवाद / ७०
ब्रह्मानन्द / १९, ९७
ब्राह्मणवाद / ७०
भक्ति / १३१
भग्नावरणचित् / १२७, १२८
भट्टतौत / ११४, ११५, ११६
भट्टनायक / ११९, १२०, १२१, १२२, १२३, १२६
भयानक / ८०, १०१
भरत या मुनि / ७२, ९८, १००, १०१, १०३, १०५, १०६, १०८, ११०, ११२, ११४, ११६, ११८, १३०
भरहुत / ७२
भवभूति / ७५
भागवत / ६०
भार्या / १९
भाव और रस / १०८, १०९
भावकत्व व्यापार / ११९
भावना / १२२, १२४, १२५
भावनाभाव्य / १२१
भावयित्री / ३१
भावयोजन / ८२
भाव्य और संवित् / ९५
भिक्षुविहार / ७९
भूमा / ५७, १२५
भूमिकृत भेद / ११
भोग-चक्र / १२८
भोगभूमि / १५
भोगीकरणव्यापार / १२०, १२२
भोजराज / १२५, १३१
मणिप्रभा / ११२
मथुरा / ७४
मधुसूदन सरस्वती / ८५
मध्यम और पञ्चम / ८०
मध्य लय / ८०
मन-वाक्-काय / १०७
मनोमय / ३९
मम्मट या मम्मटाचार्य / १०३, १०७
मयूर / ४८
मसी चिह्न / ५५
महाकरुणा / ६८
महात्मा द्रुहिण / १०१
महाभारत / ६०, ६३, ६८
महायान / ६८, ७०
महोदधि / ८९
माघ / ८७, १००
माध्यमिक / ३५
मानसी प्रज्ञा / ७०

मायाशक्ति या माया / ५४, ५५, ११८
मारपाश / ६१
मार्क्स / ३५
माहायानिक / ७०
मीमांसक / १२०, १२४
मुग़ल / ८६
मूर्त-अमूर्त / ९१
मूर्तिविद्या / ७२
मूर्तिविधान / ७४
मूल्यतत्त्वमीमांसा / १२
मूल्यमीमांसा / १२
मूषा / ८५
मेघदूत / ७६
मैणकर / ५६
मौर्यकाल / ७०, ७१
यक्षी-प्रतिमा / ७३
यवन / ३३, ७१
युक्लिडीय / ५, ९
रक्तिप्रवणा / ७४
रंग पट / ११६
रङ्गोपचार / १०२
रति / ६५.११२, ११४, ११५
रतिदहन / ७५
रम्यत्व-मीमांसा / १८
रवीन्द्रनाथ / ६०.८८
रस / ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०८, ११०, १११, ११२, ११३, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १२१, १२२, १२३, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३२,
रस-प्रतीति / १०५, ११०
रसप्रमाता / १३०
रससंस्कार / ३२
रससिद्धान्त / ८०
राजशेखर / ३८
राम / ६१, ७१, ७२.१०७, ११२, ११४
रामचन्द्र-गुणचन्द्र / ११८
रामचरितमानस / ६०
रामायण / ६०
रामावतार शर्मा / ४३
रावण / ६१
रूपधर्म / २३
रूपभेद / ८२
रूपवाद / ८७
रूपसंसार / ३२, ३३
रूपाभास / ८१
रुप्यक / ७४
रेखागणित / ५, ९
रेम्ब्रान्ट / ११४
रौद्र / ८०, १०१, १०७
लक्षण और स्वभाव / ६९
लक्षणशास्त्र / २२
लक्षणा / ११९
लक्षणाध्यवसाय / ३१
लक्ष्मण / ७१
लक्ष्मी / ७५
लावण्य / ११७
लावण्य योजन / ८२, ८४
लिङ्ग-लिङ्गिभाव / ९०, १११
लोकगीत / ९९
लोक चैतन्य / १७, १८
लोल्लट / १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११३, १२०
वक्रोक्ति / ८७
वर्णातिरिक्त धर्म / ३८
वर्णिकाभङ्ग / ८२, ८५
वसु / ५६
वस्तुधर्म / २३
वस्तुविषया / ५२
वाक् और प्राण / ९५, ९६, ९७
वाचक सङ्केत / ९१
वाचकशक्ति / ११२
वाचिक / १०४, १०७
वाच्य-वाचक / २४, ९२
वात्स्यायन / १३
वामन / ३
वाल्मीकि / ७५
वासना-संवाद / १२४

वासुदेव / ५७, ६१.७१
विज्ञानवाद / ३९, ६७, ७०, १२६
वितर्क / ७०
विद्यारण्य मुनि / १८
विपश्यना / ६६
विभाव / ७९, ८४, १०३, १०७, १०९, १११, ११४, ११५, ११६, ११९, १२१, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १३१
विवादी स्वर / ८०
विषय-विषयी / १५, २४, २५, ३६, ५४, १०९
विष / ९५
विष्णुधर्मोत्तर पुराण / ७८
वीर / ८०, १०१
वीर चरित / ७१
वीराध्यान / २६
वृत्र / ६०
वेदनासम्प्रयुक्त विज्ञान / ७०
वेदविद्या / ११०
वेदसम्मत परा / ९२
वेदान्त-दर्शन / ६४
वेदान्ती / १२०
वेश वैशिष्ट्य / ७२
वैदिक या वेद / २०, २३, ५३, ५४, ५५, ५६, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६४, ७१, ७४, ७८, ९५, ९६
वैदिकोपासना / ७१
वैभाषिक / २९, ६४, ६५
वैष्णवाचार्य / १३१
व्यक्तिविवेक / १२२
व्यंग्य और व्यंजक भेद / ४६
व्यक्तिपक्ष / १०६
व्यक्तिवाद / १२०
व्यंजक-भेद / २४
व्याकरण / १४, ५४
व्यभिचारीभाव / १०३, १०६, १०७, १०८, १११, ११२, ११८, १२६
व्याप्ति और अतिक्रान्ति / ५८
व्यावृत्ति या व्यावृत्तात्मक प्रत्यय / ३५, ३६, ३७, ३८, ५१, ९१, १०१, १२८
व्यावृत्तिकृत भेद / ११
व्यास / ७५
शकुनि / ६१
शकुन्तला / ७७, १०८, १०९, १२३, १२४
शंकराचार्य भगवत्पाद / १८, ४०, ९५
शक्य-शक्त सम्बन्ध / १८
शतपथ / ५६
शब्द और अनुमान / १२०
शब्दसाधना / ७४
शब्दालंकार / १२२
शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय / ४३
शाकुन्तल / ७६, १०९, १२३
शांखायन / ५६
शान्तरस / ६८
शान्तिपर्व / ८२
शिल्पशास्त्र / ८१
शिल्पागम / ७२
शिल्पादर्श / ७३
शिव / ७२, ८३
शिव और शम् / ५६
शिष्ट धर्म / २४
शुङ्ग / ७१
शून्यवाद या शून्यवादी / ६८, ७०
शृङ्गग्राहिका / ११७
शृंगार / ८०, ९५, १०१, १०७, १०८, ११२, १२१, १२२
शृङ्गारप्रकाश / १२५
शेक्सपीयर / १००, ११४
शेष प्रश्न / ४३
शैव / १४
शैवी तनु / ७८
श्रमणकाव्य / ७१
श्रमण-दर्शन / ६१
श्रमणधर्म / ७८
श्रमणवाद / ७०
श्री अरविन्द / ५९, ७४
श्रीशङ्कुक / १०८, १११, ११३, ११४, ११६, ११७
श्रुति / ७९, १२१
श्रेयस और प्रेयस / २६, ३९, ५६, ५७, ६१

श्रोत्रिय / ९७, ९८
श्लेष / ८७
षड्ज और ऋषभ / ८०
षाडवादि रस / १०३
संयोग और निष्पत्ति / १०६
संवित् या संविद् / ७९, ११९, १२३, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१
संवृत्ति / ३७
संस्थान / ३८, ५१
सङ्केत-विधान / ९२
संग्रह वचन / १०२
सञ्चारी / १०८
सतृणाभ्यव्यवहार न्याय / १०४
सत् या असत् / ४३, ५६, ५९, ६०, ६१, ७९, १००
सत् और चित् / ५७
सत्त्व और असत्त्व / २६, ५६, ६६
सत्कार्यवाद / १११
सत्त्व / ११९, १२०, १२६
सत्त्ववृत्ति / १०५
सत्त्वशुद्धि / ९८
सद्वाद / २३
सप्रतिघ / ६२
समाधि / ७१
समाश्रयण / ५१
समुद्रलङ्घनादि / १२६
सम्यक्सम्बुद्ध / ७२
सर्वातिक्रामीपुरुष / ४०
सविकल्प प्रत्यक्ष या सविकल्प / ३०, १२७, ६६
सांवृतज्ञान / ६६, ६७
साक्षात्कारस्वभाव / १२५
साक्षिचैतन्य / ५८, ९६
सागर या समुद्र / ८३, ८८
सात विघ्न / १२६
सादृश्य / ८२, ८४, ८७, ९०, ९१, ११४, ११६, ११७
साधारणीकरण / ११९, १२३, १२६, १२९
सांख्य दर्शन या सांख्य / ६४, ११८
सांची / ७२
सायण / ५५, ५६
साम-पारायण / ७९
साहित्यदर्पणकार / १२७
सुमिति और अमिति / ५८, ८८
सुसन लैंगर / ८१, १३०
सूत्रधार / ७९
सोम और साम / ९५, ९६
सोमरस / ९६
सौन्दर्य-दर्शन / ३०, ३७
सौन्दर्य-बुद्धि / २८, ३०, ३१, ३२, ३७, ४३, ४४, ४८, ५०, ५६, ५८, ६४, ६५, ६६, ६७, ७४, ७७
स्तूप / ७२
स्थविर वीतशोक / ६३
स्नुषा / १९
स्फोटवाद / १२०
स्मृति / ७०
स्वभावभूमि / १५
स्वरयोजना / ७९, ८०
स्वलक्षण या स्वलक्षण प्रधान / २, ७, ८ ३८, ६६, ६९, ७२, ८२, ८३
स्वीयत्व / १९
हनुमान / ७२
हर्षचरित / ११४
हविष् / ९६
हानोपादानबुद्धि / ५२
हास्य / ८०, १०१, ११३
हिरण्यगर्भ ब्रह्म / ९७
हृदय-संवाद / ८९, ११५
हेमचन्द्राचार्य / १०७, ११५, १३१
हेगेल / १६, २४, ३५, ३६
हैलेन कैलेर / ९२

गोविन्द चन्द्र पाण्डे -
विरचित

सौन्दर्य-दर्शन-विमर्श

अनुवावक
जगन्नाथ पाठक

राका प्रकाशन
इलाहाबाद